ओ३म्

चेतना

डॉ० रविदत्त शर्मा आचार्य
एम०ए० (वेद) एम०ए० (संस्कृत)
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न

लेखक की अन्य कृतियाँ :
–दिनचर्या
–शिष्टाचार

1994
सरस्वती साहित्य संस्था
295, जागृति इन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92
☎ 2222435

Ravi Shastri

Ravi Shastri

ओ३म्

चेतना

डॉ० रविदत्त शर्मा आचार्य

एम०ए० (वेद) एम०ए० (संस्कृत)
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न

लेखक की अन्य कृतियाँ :

–दिनचर्या

–शिष्टाचार

1994

सरस्वती साहित्य संस्था

295, जागृति इन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

☎ 2222435

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक "चेतना" डॉ० रविदत्त शर्मा जी द्वारा लिखित पुस्तकों की कड़ी में तीसरी है। इससे पूर्व उनकी दो पुस्तकें–"शिष्टाचार" तथा "दिनचर्या" का प्रकाशन किया गया है जिसे सर्वसाधारण ने बहुत सराहा है।

डॉ० रविदत्त शर्मा वेदों, शास्त्रों व अनेकों दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाण्ड ज्ञाता हैं। उन्होंने चार वेदों, 'गीता', 'पुराण', 'उपनिषद', 'सांख्य सूत्र', 'न्याय सूत्र', 'श्वताश्व', 'योग', 'मनुस्मृति', 'कठोपनिषद', 'छन्दयोग्य', 'चाणक्य', 'योगदर्शन', 'मुण्डकोपनिषद', 'तैतिरीय उपनिषद', 'माण्डुक्य', 'पाणिनीय शिक्षा', 'याज्ञ स्मृ०', 'पारस्कर गृ०सू०', 'निरूक्त', आदि अनेकों ग्रन्थों के मंत्रों व श्लोकों की अत्यंत सरल, रोचक व पठनीय व्याख्या की है ताकि साधारण से साधारण मनुष्य इन दुर्लभ परन्तु अतिलाभदायक ग्रन्थों के निर्देशों का प्रयोग करके अपने जीवन को उन्नत तथा सफल बना सके। इस पुस्तक का एकमात्र ध्येय यही है कि साधारण मनुष्यों को कठिन मंत्रों व श्लोकों के सरल व रोचक भावार्थ दर्शा कर उनका जीवन सार्थक व सुखमय कर दे।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि प्रत्येक पाठक इस पुस्तक के निर्देशों का अपने जीवन में प्रयोग करके लाभ उठायेंगे।

30-08-1994

–रवीन्द्र मेहता

विषय सूची

प्रकाशक : रवीन्द्र मेहता, दूरभाष : 2222435

मूल्य : रु० 11.75

रविशास्त्री

1. चेतना

इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश्चिकित्वांसो अचेतसं नयन्ति। ऋ० ७.६०.७

"ज्ञानविज्ञान युक्त विवेकपूर्वक चिन्तन करने वाले प्रखरबुद्धि विद्वान् ही अज्ञानी को पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्यन्त सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कराते हैं।"

मनुष्य अपने आप को सुखी बनाने के लिये अपने आराध्य देव से सदैव कुछ न कुछ याचना करता ही रहता है; परन्तु वह इतना कभी नहीं विचारता कि जो कुछ वह माँग रहा है, वह उसका पात्र भी है कि नहीं ? भौतिक सुखों से लेकर अमृतत्व पर्यन्त उपलब्धियों के लिये प्रार्थना करना ठीक वैसा ही है जैसे कोई भिखारी किसी राजा से हाथी की याचना करने लगे। माँगते-माँगते सारा जीवन बीत जाता है परन्तु मनुष्य कभी भी ऐसी प्रार्थना नहीं करता कि उसे अब कुछ नहीं चाहिये। धन माँगा तो सदुपयोग नहीं, विद्या माँगी परन्तु ज्ञान वितरण नहीं, सन्तान माँगी किन्तु उसके पालन-पोषण की क्षमता नहीं, आयु माँगी तो परोपकार नहीं, स्वार्थ-साधन-सिद्धि माँगी तो परमार्थ को भूल ही गये। इसी प्रकार कोई भी याचना अपने में पूर्ण नहीं। एक भिक्षुक यदि भाँति-भाँति के व्यञ्जन एकत्र करके ठूँस-ठूँस कर अपना पेट भर ले और फिर अपच-वमन-अतिसार आदि हो जाय तो विनाश का कारण भी बन सकता है; ऐसी याचना भी किस काम की ? हम ईश्वर से अन्न माँगें तो पाचनशक्ति भी माँगनी चाहिये। सन्तान माँगें तो उसे योग्य बनाने की क्षमता या सामर्थ्य भी अवश्य माँगें। धन के साथ-साथ उसकी शुद्धि, अच्छे कामों में लगाने की तथा बुद्धि के साथ विवेक या चेतनाशक्ति की भी प्रार्थना करें। हमारे ज्ञान का प्रवाह सात्विक होगा तभी चेतनता या चेतना की स्थिति सम्भव है।

वेद में रयि, धनादि ऐश्वर्य को चेतन करने की प्रार्थना की गयी है; हम अपने धन को उत्तम ज्ञान से संयुक्त करें, उसे अपनी उन्नति में लगायें, वह अनर्थ का साधन न बन जाय। धन के साथ-साथ हम सोम गुणसम्पन्न होवें, श्रेष्ठ कर्मों में हमारा ध्यान हो, धन को पवित्र करने वाले होवें और नित्य परमार्थ की ओर अग्रसर होते रहें–

प्र सोमासः स्वाध्यः पवमानासो अक्रमुः।
रयिं कृण्वन्ति चेतनम्। ऋ० ९.३१.१

जब हम अपने धन को काम में लगावें तो उसका सदुपयोग ही करें, उससे अपना तथा दूसरों का कल्याण करें तथा सर्वहितकारी भावनाओं को लेकर अनर्थनिवारण करें। 'सोमासः' का अर्थ है कि हमें धन का मद न हो जाय, हम सामान्य वृत्ति वाले होकर व्यवहार

करें, अपने कर्त्तव्य को विस्मृत न कर बैठें। धन का बहुत बड़ा नशा हो जाता है जिसके कारण मनुष्य में बहुत से दोष आ जाते हैं। धन को दुगुना, तिगुना, दस गुना, सौ गुना और हजार गुना करने की एक स्पर्द्धा हो जाती है। इस क्रम में न्याय-अन्याय का भी ध्यान नहीं रहता। इसीलिये मन्त्र में 'स्वाध्यः' का प्रयोग हुआ है। सदसद्-विवेचना-पूर्वक धन को कमाना और व्यय करना चाहिये। शोषण, चोरबाजारी या तस्करी के द्वारा प्राप्त धन पाप की कमाई होती है। ऐसा धन बड़े वेग से आता है तो मनुष्य के विवेक पर आघात होता है फलस्वरूप वह ध्यान करना भूल जाता है; उसे संसार में धन ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र साधन धन ही समझा जाता है और विचित्र बात यह है कि चरित्र भी धन को ही माना जाने लगा है। आज की परिभाषा में यदि चरित्रहीन है तो निर्धन और मूर्ख है तो निर्धन। धनी व्यक्ति में तो किसी भी दोष की आशंका ही नहीं की जा सकती क्योंकि वह बड़ा आदमी होता है। धन के सामने सभी नतमस्तक होते हैं। इसीलिये विवश होकर किसी विद्वान् ने लिख दिया 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' सभी गुण धन का आश्रय लेते हैं। परन्तु विज्ञजन एकमत से स्वीकार कर लेंगे कि आज के प्रचलित शोषण का कारण यही प्रवृत्ति है। इस लालसा में मनुष्य सभी अच्छाईयों को छोड़ता चला जा रहा है। आज का झूँठ राजनीति बन गया है और किसी को ठगना बुद्धि का कमाल कहा जाता है। इसी के कारण पारस्परिक व्यवहार भी दूषित होता जा रहा है। मधुर सम्बन्धों के मध्य में यह धन एक दीवार बन गया है। पति-पत्नी का अटूट सम्बन्ध प्रेम का सबसे बड़ा प्रतिमान है परन्तु, वाह रे धन ! तूने वहाँ भी अपनी कुल्हाड़ी चला दी और दो हृदयों के बन्धन को खण्ड-खण्ड कर डाला। विवाह संस्कार के अवसर पर जो पति शपथ लेता है कि वह आजीवन अपनी धर्मपत्नी का पोषण करेगा; वही पति पर्याप्त दहेज न मिलने पर अपनी प्राणप्रिया को उसका गला घोट कर मार देता है। क्या इससे बढ़कर भी कोई पाप होगा ? क्या ऐसे व्यक्ति को पवित्र कहा जायेगा ?

परन्तु वेद कहता है 'पावमानासः' हे मनुष्यो ! पवित्र बनो, इतने पवित्र कि दूसरों को भी पवित्र कर दो। 'चेतनं रयिं कृण्वन्ति' धन को चेतन बनाओ, मृत धन को मत स्वीकार करो, जीवित धन को ही ग्रहण करो। धन की धारा में बहने वालो ! सदैव स्मरण रखो कि किसी को दुःख देकर अपहरण किया हुआ धन मृत और पुरुषार्थ से कमाया हुआ धन जीवित होता है, चेतनावान् होता है। मृत धन बुद्धि, विवेक और समझदारी आदि सभी गुणों को मार देता है, नष्ट कर देता है। आँखें होते हुए भी मनुष्य अन्धे की भाँति आचरण करता है, कान रहते हुए भी बधिर हो जाता है और जिव्हा में तो एक साथ ही दो विकार हो जाते

हैं एक अतृप्ति और दूसरा असत्य। अनेकों प्रकार के व्यञ्जन, मधुर भोजन करके भी स्वाद लेने की लालसा बढ़ती ही जाती है और व्यवहार में वाणी-सत्य का आश्रय नहीं लेती। दूषित धन के आते ही ज्ञानेन्द्रियों को लकवा मार जाता है फिर वे अपने-अपने गुणधर्म को छोड़ देती हैं। बुद्धि में थोड़ा-सा उलट-फेर होने से सारी व्यवस्था भंग हो जाती है। इसलिये वेद का आदेश है 'वरूत्रीं धिषणां वह' ऋ० १। २२। १०।। वरणयोग्य बुद्धि को धारण करो। प्रत्येक पदार्थ को चुनते समय ध्यान रखो कि वह वरण करने योग्य है भी या नहीं। धन भी यदि वरणीय होगा तो बुद्धि वरणीय बनेगी। अपवित्र धन आहार को भी शुद्ध नहीं रहने देता। मनुष्य दूध-घी की ओर कम तया मांस-मदिरा की ओर अधिक भागता है। जैसे विषय का इंजेक्शन लगाने से सारा शरीर बेकार हो जाता है वैसे ही दूषित धन मनुष्य को पूर्णतः दूषित कर देता है। परमेश्वर सब पर ज्ञान की वर्षा करता है परन्तु अचेत मानव की बुद्धि से तत्काल ही खिसक जाता है। इसका एक ही उपाय है कि मनुष्य धन पर हमला करना छोड़ दे। धनादि ऐश्वर्य को जुटाते समय यजुर्वेद मन्त्र ४०। १६ को स्मरण कर लेना सदैव हितकर होगा 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्' हे प्रकाशस्वरूप प्रभो हमें ऐश्वर्य के लिये सन्मार्ग से ले चलो, कहीं हम पथ भ्रष्ट न हो जावें। श्रुति के विधान में उत्तम मार्ग ही ऐश्वर्य है। श्रेष्ठ धन उसी को जानो जो धर्मयुक्त उपायों से प्राप्त किया गया है। परिश्रम से कमाया हुआ धन सदैव पोषण करता है, यश बढ़ता है और देता है उत्तम सन्तान–

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम्।। ऋ० १.१.३

एकाकी धन से मानव कल्याण सम्भव नहीं। इसके साथ तीन चीजें और जुड़ी हुई हैं। ये चारों मिलकर ही मानव के लक्ष्य को पूर्ण करते हैं। धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष ये चारों पुरुषार्थचतुष्टय कहलाते हैं। वेद में ऐसे धन को कमाने का आदेश है जो मोक्ष का बाधक न हो। धन तो साधन मात्र है, ऐश्वर्य नहीं। जो लोग मात्र अर्थ में ही उलझ कर रह जाते हैं वे अपने साथ अन्याय कर रहे हैं जिसका परिणाम दुःख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ईश्वर परमैश्वर्यवान् है, सच्चा ऐश्वर्य उसी से मिलता है। संसार का कोई भी साधन इस विषय में अपूर्ण है। एक ऋचा में संकेत है कि ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये सावधान होकर सर्वव्यापक परमात्मा की ओर बढ़ो। 'उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये' ऋ० ३ . ५३ . ११।। वेदवाणी पग-पग पर सावधान करती है, परन्तु कठिनाई यह है कि व्यवहार में विवेक नष्ट हो जाता है। मनुष्य स्वयं को आपत्ति में डाल कर भी धन कमाने में अपना गौरव समझता है, क्षणिक आकर्षण में ऐसा बह जाता है जैसे नदी की तीव्र धारा में टूटी-फूटी नौका।

ज्ञान को निरस्त करने वाले अचेतन तत्व से सदैव सावधान रहो। विवेक के अभाव में मनुष्य स्वयं ऐसा निर्णय नहीं ले पायेगा क्योंकि वह भ्रम में है। इसके लिये किसी विद्वान् की शरण लेना अनिवार्य होगा अन्यथा भ्रमोच्छेद सम्भव नहीं। काशी के राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द को भी अपने ज्ञान का मद हो गया था, वे सिद्धान्त से भटके हुए थे परन्तु जब उनकी भेंट स्वामी दयानन्द से हुई तो भली-भाँति वास्तविकता का पता चला और सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। यह पूर्ण विश्वास हो कि वेदज्ञ ही निष्पक्ष रूप से भ्रान्तियों का निवारण करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विद्वान् की शरण में जाने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये।

कल्याण के इच्छुक जन को चाहिये कि ऐसा ऐश्वर्य जुटाये जो स्वस्तिप्रद हो। उससे यश बढ़े, पोषण हो और सर्वथा कल्याण ही कल्याण हो। परमेश्वर सबका धाता, पोषक, रक्षक, प्रेरक तथा सुखदाता है, उससे दूर भागकर कभी भी सुख नहीं मिल सकता। उसके नियमों के अन्तर्गत रहना ही उसका आश्रय ग्रहण करना है। यही स्वस्तिपन्था है, कल्याण का मार्ग है, सच्चा स्मरण है और सही चेतना है। द्युलोक से लेकर पृथ्वीपर्यन्त ईश्वर के नियम में आबद्ध हैं, ये परमेश्वर का ही स्मरण कराते हैं। चेतना प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त है जो सारे मोह को नष्ट कर देती है–

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना।। ऋ० ५.५१.११

2. उत्तम स्तुति

अपने आराध्य को प्रसन्न करने हेतु स्तोत्रों को अर्पित करना ही स्तुति है, इसकी उत्कृष्टता तब प्राप्त होती है जब भक्त अपने आपको भूलकर इष्ट देव के ध्यान में लीन हो जाता है। यह स्थिति दुर्लभ है, सभी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। अपनी भावनाओं के अनुसार सभी स्तोत्रागण यथाशक्ति समर्पित होते हैं फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं कि हमने स्तुति ठीक प्रकार से की या हमारी स्तुति का कुछ परिणाम हमें मिलना आरम्भ हो गया अथवा हमारा जीवन कुछ अंशों में दिव्य हो गया। भक्तगण कहेंगे कि इसके विश्लेषण की क्या आवश्यकता है ? यह तो भावना का विषय है। परन्तु भावना के सम्बन्ध में भी एक प्रश्न उठता है। क्या भक्त को अपने पर पूर्ण विश्वास है कि उसकी भावना उतनी पवित्र है जितनी कि होनी चाहिये ? स्तुति के विषय में दो बातें सामने आती हैं, एक पार्थिव और दूसरी दिव्य। पार्थिव का अर्थ है जड़ और दिव्य का अर्थ है चेतनसत्ता। पार्थिव वे सब वस्तुएँ हैं जिनका सम्बन्ध पृथ्वी से होता है। अनेकों प्रकार की आकृतियाँ (प्रतिमाएँ) बना-बनाकर उनके सम्मुख चिल्लाकर स्तोत्रों का पाठ करना अथवा किसी लिप्सा के वशीभूत होकर स्तुति करना पार्थिवता है। मिट्टी, ईंट, पत्थर, धातुएँ काठ आदि सभी पार्थिव तत्व हैं, इनसे कोई भी आकृति बना लें तो यह स्तुति का लक्ष्य नहीं है। संसार के विभिन्न पदार्थों की लालसा होने पर स्तुति करना भी पार्थिवता है। पार्थिव सत्ता से ऊपर उठकर बिना किसी चाह के सर्वोपरि शक्ति के लिये दिव्य स्तोत्रों को अर्पित करना दिव्यता है। हमारी भावना भी दिव्य हो, हमारे स्तोत्र भी दिव्य हों और आराध्य देव भी दिव्य हो, तभी स्तुति का लक्ष्य पूर्ण होगा। दिव्य को ही लोक में ऊँचा कहा जाता है। जिसे आँखें नहीं देख सकतीं, कान सुन नहीं सकते, हाथ पकड़ नहीं सकते, नाक सूँघ नहीं सकती और रसना उसका स्वाद नहीं ले सकती, वही हमसे ऊँचा है, दिव्य है। सामान्य बुद्धि वाले उसका विचार भी नहीं कर सकते। उसका चिन्तन करने के लिये दिव्य बुद्धि की आवश्यकता है। उस ऊँचाई तक पहुँचना सबके बस की बात नहीं है। उसके स्तोत्र ऊँचे से ऊँचे स्थान पर हैं उसकी स्तुति कर पाना आसान नहीं है–

तुञ्जे तुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम्।। ऋ० १.७.७

मन्त्र का भाव यह है कि स्तुति तो सब करते हैं परन्तु सुष्टुति (उत्तम स्तुति) करना सम्भव नहीं। यहाँ पार्थिव स्तुति से हटकर दिव्य स्तुति का संकेत किया गया है। पार्थिव स्तुति से पृथ्वी ही प्राप्त होगी अर्थात् भक्त पृथ्वी से ऊपर नहीं उठ सकेगा। केवल भोगों के लिये ही स्तुति करना और भोगों में ही रमण करना, यह ही पार्थिवता है। स्तुति के वास्तविक

लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये वेदवर्णित सुष्टुति को ही स्वीकार करना होगा, इसे ही उत्तम स्तुति कहते हैं।

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सा देवता है जिसकी हमें स्तुति करनी चाहिये ? इसका निर्णय यदि संसार के लोगों पर छोड़ दिया तो सर्वथा असम्भव है; क्योंकि देवताओं की निश्चित संख्या नहीं है। इसका समाधान श्रुति के द्वारा ही हो सकता है। एक ऋचा में उल्लेख है कि ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाला, सर्वशक्तिमान्, विश्वद्रष्टा सारी प्रजा का एक ही स्वामी है, उसी की स्तुति करो। एक अन्य ऋचा में भी ऐसा ही भाव है कि गायन तथा अर्चन करने वालो सबसे बड़ा इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् परमेश्वर है, अपनी वाणी से उसकी ही स्तुति करो–

य एक इत्तमुष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणि।
पतिर्जज्ञे वृषक्रतुः।। ऋ० ६.४५.१६
इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्र मर्केभिरर्किणः।
इन्द्रं वाणीरनूषत।। ऋ० १.७.१

उक्त मन्त्रों में प्रमाणित किया गया है कि संसार का नियन्त्रण करने वाली एक ही सर्वोपरि सत्ता है, उसी की स्तुति करनी उचित है। वही दिव्यशक्ति है जो दिखायी नहीं देती है। यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है कि जब उसका कोई पता ही नहीं तो स्तुति कैसे करें ? इसका समाधान यही है कि वेदवाणी के द्वारा स्तुति की जाय, वही उसका पता बतायेगी। प्रसंगानुकूल एक ऋचा प्रस्तुत है। इसमें स्तुति भी है और परमेश्वर की सर्वोच्चता ठीक प्रकार से समझ में आ जाती है। ऋचा का विषय है कि जैसे मनुष्य दूध की इच्छा से आसानी से दोहन कराने वाली गायों से यथेच्छ दूध प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार अपनी रक्षा के लिये प्रतिदिन उस परमेश्वर को पुकारते हैं जो सुन्दर रूपों को प्रस्तुत करता है–

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे।
जुहूमसि द्यवि द्यवि।। ऋ० १.४.१

यहाँ परमेश्वर को सुरूपकृत्नुम् कहा गया है, यही उसकी स्तुति है। संसार में जितने भी रंग-रूप-आकार वाले जड़ चेतन दिखायी दे रहे हैं, सब परमेश्वर के द्वारा ही बनाये गये हैं। संसार के पदार्थों को विभिन्न रूपों में ढालने का काम परमेश्वर के अतिरिक्त कोई देवता नहीं कर सकता। अतः यह सर्वमान्य तथ्य है कि परमेश्वर को छोड़ अन्य कोई भी देवता स्तुति के योग्य नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि स्तुति किस प्रकार करनी चाहिये ? स्तोत्र कैसे हों और किस ग्रन्थ की सहायता ली जाय ? इसका उत्तर भी हमें वेद में ही मिलता है। एक ऋचा में आदेश है कि उस सर्वत्र प्रकाशमान्, ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाले, सर्वशक्तिमान परमेश्वर की विभिन्न

रूपों वाली नित्य, वेदवाणी से भली-भाँति स्तुति करो–

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्।। ऋ० ८.७५.६

वेदवाणी ही परमेश्वर की नित्य वाणी है, उसी के द्वारा स्तुति का विधान वेद में है। मनुष्यकृत स्तोत्रों का प्रयोग न किया जाय। विष्णुसहस्र नाम, हनुमान चालीसा आदि अनेकों रचनाएँ हैं जिनसे मनुष्य जाति भटकी हुई है और भाँति-भाँति के सन्देहों से ग्रसित है। किसी भी महापुरुष को स्तोत्रों की रचना करने का अधिकार नहीं है। मनुष्य की वाणी (रचना) केवल लोकव्यवहार के लिये होती है, स्तुति के लिये नहीं।

स्तुति करते समय अपने आपको एकाग्र करना आवश्यक है। मन की विशेषता है कि एक बार में एक ही विषय को ग्रहण करता है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि मन को सांसारिक भोगों में भी लगाये रखें और स्तुति भी करते रहें। हम अपने सामने चित्र को रख लें तो चित्र तक ही सीमित रह जायेंगे। चित्र का ध्यान करेंगे तो संसार में ही भ्रमण करते रहेंगे। ध्यान उसका किया जाता है जिसे हम देख नहीं सकते। भूख लगने पर भोजन का ध्यान तब तक करते हैं जब तक वह हमारे सामने नहीं आता। सामने आने पर भोजन को खाया जाता है, ध्यान नहीं किया जाता। गंगा में खड़ा होकर कोई व्यक्ति स्तुति कर रहा है तो वह केवल गंगा के तटों और जल की तरंगों का ध्यान कर रहा है, परमेश्वर से वह बहुत दूर है। परमेश्वर के गुणों का संकीर्तन करते करते वे गुण निकट आते हुए प्रतीत होते हैं और हमारे अन्दर एक ज्योति का समावेश होता है। यही ध्यान की पहचान है। मन और बुद्धि दोनों को ही एकाग्र करके स्तुति के उच्च सोपान को प्राप्त किया जा सकता है–

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।। ऋ० ५.८१.१

मेधावी - महान - स्तुत्य - ज्ञानवान – सभी कर्मों का ज्ञाता - एक ही सविता देवता है, वह ही सब कुछ धारण करता है, व्यवस्था करता है। विद्वान् जन उस सविता देवता में ही मन और बुद्धि को लगाते हैं। यह ही उस प्रकाशस्वरूप की बहुत बड़ी स्तुति है, ऐसी ही स्तुति भक्तजनों को करनी चाहिये। यह स्तुति योग का रूप धारण कर लेती है। श्रुति में ईश्वर के गुण - कर्म - स्वभाव का ठीक-ठीक पता मिलता है। परमात्मा जैसा है वैसा ही गुणगान करना स्तुति कहलाता है। ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी करनी हो तो वेद की शरण लेनी ही पड़ेगी। अणु-परमाणु से लेकर विशाल ब्रह्माण्ड तक की सम्पूर्ण जानकारी वेद के द्वारा हो जाती है। वेद विहित स्तुति ही उत्तम स्तुति होती है।

❋❋❋

3. त्रैतवाद

वैदिक संस्कृति का मूल सिद्धान्त त्रैतवाद पर आधारित है। ब्रह्माण्ड इन्हीं तीन तत्वों से ओत-प्रोत है। वेद में ही इसका प्रमाण उपलब्ध है। इस सिद्धान्त अर्थात् त्रैतवाद को जाने विना वेद का रहस्य जानने में कठिनाई होगी। वेद का अनुसरण करने वाले को त्रैतवाद में पूर्ण विश्वास होना आवश्यक है। वेद का व्याख्यान करने वाले सभी ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ये तीन तत्त्व हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति। वेदमन्त्र में रूपक अलङ्कार के द्वारा इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। सुन्दर पंखों वाले दो पक्षी हैं। दोनों एक साथ मिलकर रहते हैं, एक-दूसरे के प्रिय सखा हैं। दोनों का आश्रय एक ही वृक्ष है। उनमें एक पक्षी वृक्ष के फलों का स्वाद लेता है तथा दूसरा देखता रहता है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋ० १.१६४.२ अथर्व० ९.९.२०

ब्रह्म और जीव दो पक्षी हैं, वृक्ष प्रकृति है, जीव संसार को भोगता है और ब्रह्म सर्वद्रष्टा है केवल देखता रहता है। इसी अभिप्राय का मन्त्र उपनिषद् में भी मिलता है। उसमें प्रकृति को अजा वताया है जो लाल, श्वेत और काले रंग की है। ये सत्त्व - रज - तम हैं। प्रकृति विभिन्न प्रकार की रचना करती है, जीव उसे भोगता है जबकि ईश्वर या ब्रह्म तटस्थ रहता है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

श्वेताश्वतर० अ० ४ मन्त्र ५

संसार में जो कुछ भी जड़-चेतन दृष्टिगोचर होता है वह सब प्रकृति है। प्रकृति कार्यरूप में होकर विभिन्न प्रकार की रचना करती है। जीव इसका उपभोग करता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि भोग तथा भोक्ता दोनों ही पर्याप्त हैं; तीसरे की क्या आवश्यकता है ? यदि इनको ब्रह्म न देखे तो क्या हानि होगी ? इसका समाधान मुण्डकोपनिषद् में किया गया है कि जीव भोगों में लिप्त होकर इनके जाल में फँस जाता है। असमर्थ और विवेकहीन मोहित होकर कष्ट भोगता है। जब परमेश्वर की महिमा को जान लेता है तो शोकरहित हो जाता है–

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।। मुण्डक० ३।१।२

ईश्वर का कार्य कर्मफल की व्यवस्था करना तथा मुक्ति प्रदान करना है। यदि जीव भोगों में ही लगा रहा तो जीवन के लक्ष्य को ही भुला देगा। जब कष्ट असह्य हो जाता

है तो वह ईश्वर को याद करता है और प्रभु को साक्षात्कार करके सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यदि जीव न हो तो बन्धन और मोक्ष किसका हो तथा प्रकृति को कौन भोगे ? अतः तीनों का होना अनिवार्य है, संसारचक्र इन तीनों से ही चलता है। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

ईश्वर – महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में 'क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' ईश्वर के लक्षण लिखे हैं। जो सभी प्रकार के दुःखों, कर्मों, उनके परिणामों एवं संस्कारों से पृथक् है उसे ईश्वर कहते हैं। एक अन्य सूत्र में महर्षि पतञ्जलि बताते हैं 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेना नवच्छेदात्' वह काल बन्धन से रहित है। सब कालों में सर्वदा विद्यमान है, वह सृष्टि में अब तक जितने भी मनुष्य जन्मे हैं, वह उन सब का गुरु है, सबसे बड़ा है। यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है कि परमेश्वर कर्म से पृथक् है, परन्तु सृष्टि निर्माण एक कर्म है तो परमेश्वर कर्म से पृथक् कहाँ रहा ? इसका समाधान यह है कि परमात्मा प्रकृति के लिये प्रेरणा करता है, केवल उसकी अदृश्य शक्ति काम करती है, वह निरवयव है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व उसको नहीं व्याप्त होते वह इन सबसे अलग है। रचना तो प्रकृति करती है परन्तु वह विधान बनाता है। परमेश्वर के नियम ही विधान हैं, इन नियमों के अन्तर्गत ही सृष्टि के कार्य होते हैं जैसे सूर्य समय पर निकलता है, ऋतुएँ क्रम से आती हैं, सृष्टि के तत्त्व अपने गुणों को नहीं छोड़ते और प्रत्येक जीव को अपने किये हुए कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

जीव – 'इच्छाद्वेष प्रयत्न सुखदुःखज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्' न्यायसूत्र १। १। १० सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा, वैरभाव, पुरुषार्थ-बल, प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना, सुख-दुःख का अनुभव, ज्ञान-विवेक ये जीवन के गुण हैं। ज्ञान परमात्मा में भी है और जीव में भी परन्तु परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है।

प्रकृति – 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' –सांख्यसूत्र सत्व - रज - तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। सृष्टि का मूल कारण प्रकृति है। तीनों गुणों की विषमता की स्थिति में निर्माण होता है और प्रकृति कार्यरूप में परिवर्तित हो जाती है। संसार की रचना को प्रकृति की विकृति भी कहा जाता है।

यह ही सृष्टि का रहस्य है। प्रलय की अवस्था में प्रकृति कारणरूप में विद्यान रहती है परन्तु उसका पता नहीं चलता। प्रलय की भीषणता भ्रम में डाल देती है। प्रलय का नाम लेते ही हमारे सामने एक डरावना दृश्य उपस्थित हो जाता है। यह विषय मनुष्य की कल्पना तक ही सीमित है। कोई भी इसको नहीं जानता और न ही किसी ने प्रलय को देखा है। केवल वेदों में इसका हवाला मिलता है।

❋❋❋

4. हिरण्यगर्भ

परमेश्वर के विभिन्न नामों में से हिरण्यगर्भ भी एक सारगर्भित नाम है। इस नाम से प्रभु का सम्पूर्ण प्रभुत्व, स्वप्रकाशत्व, जगत् प्रकाशकत्व एवं सर्वोत्कृष्टदेवत्व अभिव्यक्त होता है। वेद में सर्वत्र समान साक्ष्य है, कहीं भी विसंगति नहीं। वैसे ईश्वर का मुख्य नाम तो ओ३म् है परन्तु गुणों के आधार पर हिरण्यगर्भ नाम भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। यास्काचार्य इस शब्द की निरूक्ति इस प्रकार करते हैं–

हिरण्यगर्भो हिरण्यमयोगर्भो हिरण्यमयोगर्भोऽस्येति वा।। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा।।'

नि० १० - २३

जो समस्त तेजों को धारण करता है अथवा जिसका अन्तस्तल तेजोमय है, गर्भ निगलने अर्थ में, जो अनर्थों को निगल जाता है।

अज्ञान - अन्धकार - तमोगुण का आवरण अथवा कष्टों को दूर करके सद्ज्ञान, प्रकाश, सत्वगुण तथा सुख प्रदान करने वाली शक्ति का नाम हिरण्यगर्भ है। अज्ञान को ज्ञान एवं अन्धकार को प्रकाश ही दूर कर सकता है तथा तमोगुण का निराकरण सत्वगुण से ही सम्भव है। अतः इस कार्यहेतु उसी रूप में परमेश्वर की उपासना की जानी ही उचित है। स्वामी दयानन्द हिरण्यगर्भ की व्याख्या में लिखते हैं–

'जिसमें सूर्यादि तेज वाले लोक उत्पन्न होके जिसके आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि तेजःस्वरूप पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवास स्थान है इससे उस परमेश्वर का नाम हिरण्यगर्भ है।' –सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास

सायणाचार्य हिरण्यगर्भ की व्याख्या करते हैं–

'हिरण्यगर्भः हिरण्मयस्याण्डस्य गर्भ भूतः प्रजापतिर्हिरण्य गर्भः।'

सृष्टि की उत्पत्ति हिरण्यगर्भ से हुई। आरम्भ में प्रकृति का स्वरूप तेजोमय अण्डाकार था, उसी से सकल - प्रपञ्च का आविर्भाव हुआ। हिरण्यगर्भ ही सृष्टि के पूर्व विद्यमान था अतः वही प्रजापति, सबका स्वामी कहा गया है। सबका पति वही हो सकता है जिसका कोई पति या स्वामी न हो, वह हिरण्यगर्भ ही है। प्रजापति को 'क' नाम से भी जाना जाता है। 'क' का अर्थ है सुखस्वरूप परमेश्वर। सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही प्रकट हुआ। उससे पूर्व कुछ भी न था, इस प्रकार का प्रमाण वेद में उपलब्ध है। जगत् की रचना वही कर सकता है जो इससे पूर्व विद्यमान रहा हो। संसार में देखने में आता है कि शिल्पकार पहले हुआ और बाद में कला का विकास हुआ। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि रचयिता पहले

हुआ और रचना वाद में हुई। जो सवसे वड़ा है वही प्रणाम के योग्य है। इस कोटि में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं आता। यदि कोई प्रश्न करे कि दुनिया की सवसे प्राचीन वस्तु क्या है तो उत्तर होगा–'परमात्मा', क्योंकि पृथ्वी आदि लोक बाद में वने अतः उसी ने सबको धारण किया। जितना भी स्थूल-सूक्ष्म-चराचर जगत् है, सवका आधार परमेश्वर ही है। मनुष्य की रचना के साथ-साथ उसने सुख के साधनों को भी उत्पन्न किया इसलिये उसे 'क' सुखस्वरूप कहा गया है। ऋग्वेद मण्डल १० सू० १२१ का प्रथम मन्त्र यह ही वताता है–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

सूक्त १० - १२१ में हिरण्यगर्भरूपी परमेश्वर के द्वारा किये गये विचित्र कार्यों का वर्णन किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा संहार करने का संकेत भी मिलता है। सूक्त के द्वितीय मन्त्र में आत्मदा वलदा तया मृत्यु शब्दों का कुछ ऐसा ही भाव है। आत्मदा का अर्थ है आत्मा को देने वाला अर्थात् जीवन को प्रदान करने वाला और आत्मज्ञान देने वाला, वलदा का अर्थ है शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करने वाला अर्थात् पोषण करने वाला, मृत्यु का अर्थ है विनाश। इन्हीं कार्यों के आधार पर व्रह्मा - विष्णु - महेश की कल्पना कर ली गयी परन्तु वैदिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि समस्त कार्यवाही को सम्पन्न करने वाला एक ही परमपिता है। अनेक ईश्वरों की कल्पना करना अवैदिक है; एक अनर्थपरम्परा है। यदि प्रत्येक कार्य के लिये नये-नये ईश्वरों की नियुक्ति होती जावेगी तो कोई भी दूसरे के शासन को सुखपूर्वक न चलने देगा, सव अपनी मनमानी करेंगे। इस प्रकार सभी ईश्वरों में झगड़ा होगा तो वीच-वचाव कौन करेगा ? झगड़े की स्थिति में सृष्टि की देखभाल कौन करेगा ? अतः सन्देह को समाप्त कर निम्न मन्त्र को प्रमाण मानना चाहिये–

य आत्मदा वलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

दुराग्रहवश यदि कोई इन शक्तियों को पृथक्-पृथक् मान कर विभिन्न देवताओं की कल्पना करे तो इसका उत्तर इसी सूक्त के मन्त्र ८ में दिया गया है 'यो देवेष्वधिदेव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम' जो सभी देवों, दिव्य शक्तियों का आधिपत्य करता है वही देवाधिदेव है; दिव्यशक्तियों का नियन्ता है। मन्त्र ७ में भी इसका ही समर्थन किया गया है 'देवानां समवर्ततासु रेकः' जो देवताओं का एकमात्र प्राण है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रमाण मिलता है–

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्। ऋ० १.८९.५

ईशनीशक्ति से चर-अचर का स्वामी, बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाला सर्वेश्वर है उसको हम अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। संसार का एक ही नियन्ता है जिसे जगदीश भी कहते हैं।

यदि परमेश्वर को अल्पसामर्थ्य वाला मान लिया जाय और उसके सहायकों की कल्पना की जाय तो फिर हिरण्यगर्भ नाम निरर्थक हो जाता है। हिरण्यगर्भ का अर्थ है, जो सब कुछ अपने गर्भ में समाये हुए है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में परमात्मा का नाम हिरण्यगर्भ आया है। समस्त दिव्यशक्तियों का जनक तथा संवर्धक है। वह सबका अधिपति, रूद्र, महान्, सर्वज्ञ है। वही उत्तम बुद्धि से युक्त करता है –

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रूद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्धया शुभया सं युनक्तु।।

श्वेताश्व० उप० ४.१२

मुण्डकोपनिषद् में परमात्मा के कोश को हिरण्मय, तेजोमय बताया है। तदनुसार वह सर्वथा पवित्र, अवयवरहित, समस्त ज्योतियों की ज्योति है जिसको आत्मज्ञानी ही जानते हैं–

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः।। मु० २। ६

उपनिषदों के अनुसार भी विश्व की अखिल शक्तियों का केन्द्र हिरण्यगर्भ ही है। भूगर्भवेत्ता एवं वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व पृथ्वी आग का गोला थी। उसे परमात्मा का तेज कहा जा सकता है, उससे ही सृजन हुआ। यह तेज ज्ञान, प्रकाश तथा ऊर्जा का प्रतीक है। वह ज्योति हमारे अन्दर भी विद्यमान है, उसे जानने के लिये प्रयत्न अपेक्षित है। अष्ट चक्र एवं नौ द्वारों वाले इन्द्रियों से संयुक्त शरीर में वह ज्योति प्रकाशित है। आत्मज्योति के द्वारा ही उस हिरण्यगर्भ का साक्षात्कार किया जा सकता है। तेज को पहचानने के लिये तेज की आवश्यकता है। यह आत्मज्ञान का क्षेत्र है। जो अपनी आत्मा को पहचानने में समर्थ है वही उस ज्योति का अनुभव कर सकता है–

अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः।। अथर्व० १०। २। ३१

***

5. विश्व संविधान

संविधान एक सारगर्भित शब्द है। जिन नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर शासन चलता है उनके संग्रह को संविधान कहते हैं। प्रत्येक देश का संविधान होता है जिसके आधार पर उस देश की सम्पूर्ण कार्यवाही निर्भर होती है। राजनीति के विद्यार्थी को बहुत से संविधान देखने का अवसर मिलता है। कोई भी संविधान किसी एक ही देश से सम्बद्ध होता है, उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित होता है। जो संविधान किसी एक देश के लिये महत्त्वपूर्ण होता है, वही अन्य देशों के लिये अनुपयोगी होता है अर्थात् अपने देश के बाहर वह बेअसर है। परन्तु मैं एक ऐसे संविधान की चर्चा कर रहा हूँ जिसका क्षेत्र कोई विशेष भूभाग न होकर सम्पूर्ण विश्व है। संसार के किसी भी मनुष्य के लिये उसका महत्त्व कम नहीं है। विचित्रता यह है कि उसका निर्माण भारत में हुआ है। वह संविधान किसी महत्त्वाकांक्षी नेता ने नहीं अपितु एक तपस्वी ऋषि, विश्वनायक, प्रशस्त-पथ-प्रदर्शक, पुण्यात्मा महाराज मनु जी ने बनाया है। यह एक विख्यात ग्रन्थ है जिसे मनुस्मृति कहते हैं। इस पवित्र ग्रन्थ में विश्वजनीन भावनाओं को समाहित किया गया है इसलिये मैंने इसे विश्वसंविधान की संज्ञा दी।

मनुस्मृति में सम्पूर्ण पृथ्वी के निवासियों को आमन्त्रित किया गया है कि इस देश में उत्पन्न अग्रजन्मा अर्थात् ब्राह्मण से सभी पृथ्वीवासी अपने चरित्र की शिक्षा लेवें।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। २-२०

इसका आधार केवल चरित्र या आचरण है। हम अपने आपको दूसरों के सामने जैसा प्रस्तुत करते हैं, वही हमारा आचरण है। मनु जी ने मानव जीवन की आधारशिला के रूप में आचरण को ही स्वीकार किया है। आचरण की शिक्षा वेदशास्त्रों में मिलती है। आचरण ही सबसे बड़ा धर्म है। अपना हित चाहने वाला आचरण का पूर्णतया पालन करे। आचरणहीन, कर्मशून्य विप्र को वेद का फल नहीं मिलता। जो आचारवान् है वह सम्पूर्ण फल का भागी होता है। मुनियों ने आचार से ही धर्म की प्राप्ति देख कर, धर्म कर्म के मूल इस आचार को ग्रहण किया था–

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः।।
आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्।।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।। २-१०६, ११०, १११

सृष्टि का विश्लेषण वैज्ञानिक ढंग से किया गया है; जरायुज, अण्डज, स्वेदज, तथा उद्भिज्ज। मनुष्य, पशु जरायुज या पिण्डज हैं। पक्षी-सर्प-कछुए आदि अण्डज हैं। पसीने और मल से उत्पन्न होने वाले मक्खी-मच्छर-जूँ-खटमल आदि स्वेदज हैं। वनस्पति-औषधि उद्भिज्ज हैं, भूमि से उत्पन्न होते हैं। सृष्टि के निर्माण के साथ-साथ ही मानवजाति को ज्ञान का साधन वेद दिया। इस ज्ञान के ऋक् - यजुः - साम तीन रूप हैं। उन मन्त्रों को ऋक् कहते हैं जिनमें ज्ञान का विषय है। कर्मकाण्ड विषयक मन्त्रों को यजुः तथा उपासनापरक मन्त्रों को साम कहते हैं। यह ज्ञान पुस्तक के रूप में नहीं था। इस विषय में बहुत से विद्वानों को अभी भी सन्देह बना हुआ है कि वेद कब लिखे गये ? मनुस्मृति के आधार पर–

अग्नि वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।। १-२२

यज्ञ की सिद्धि के लिये ऋग्-यजुः-साम नाम का तीन प्रकार का नित्य वेदज्ञान ईश्वर ने अग्नि-वायु-सूर्य के द्वारा प्रकट किया। तीन ऋषियों ने मिलकर इस ज्ञान को संसार को सुनाया अतः इसे श्रुति कहा गया। ये ऋषि माता-पिता से नहीं जन्मे अपितु प्रकट हुए। वेदज्ञान को ईश्वरीय ज्ञान कहा जाता है।

समाज की व्यवस्था ठीक प्रकार से चल सके इसलिये ब्राह्मण - क्षत्रिय - वैश्य - शूद्र ये चार वर्ण बनाये। ज्ञान - बल - धन - सेवा चार प्रकार से समाज का विकास होता है। सबके विश्राम करने के लिये रात्रि तथा काम करने के लिये दिन की रचना की 'रात्रि स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः।।' मनुष्य को अपने जीवन में धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष चारों प्राप्त करने हैं, अतः मनुष्य की पूर्ण आयु को ब्रह्मचर्य - गृहस्थ - वानप्रस्थ - सन्यास इन चार आश्रमों में विभाजित किया। आश्रमव्यवस्था के परिपालन से समाज में सुख-शान्ति बनी रहेगी और स्वाभाविक ढंग से विकास भी होता रहेगा। परिवार समाज की एक इकाई है, उसका सुधार होने पर सहज ही सारा सुधार हो जायेगा। सुधार की दृष्टि से व्यक्ति के निर्माण को प्राथमिकता दी गयी है। संस्कारों से व्यक्ति-निर्माण होता है। संस्कारों से मनुष्य को द्विज बनाया जाता है। वैदिक पुण्यकर्मों के द्वारा शरीर का संस्कार किया जाना चाहिये, ये संस्कार इस लोक तथा परलोक दोनों में पवित्र करते हैं–

वैदि कैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।। २-२६

मानव सुधार का यह वैज्ञानिक तरीका हमारे लिये ऋषियों की अनुपम देन है। दस लक्षणों वाले धर्म को जीवन से जोड़ दिया है और स्पष्ट कर दिया है कि जो विद्वान् धर्म के दस लक्षणों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं और अध्ययन कर उनका पालन करते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं–

दश लक्षणानि* धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।
अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्।। ६-९३

दैनिक जीवन के व्यवहार को, आचरण को शुद्ध बनाना, धर्म का ही काम है। अपने प्रत्येक कार्य को इस कसौटी पर कस कर किया जाना चाहिये। इससे मनुष्य सदाचारी होगा और सुयोग्य नागरिक बनेगा। राजा भी यदि इस ओर ध्यान दे तो उसकी प्रजा आदर्श प्रजा होगी। धर्म का अन्य लाभ भी है। इससे प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता बनी रहेगी। ऐसी छोटी-छोटी बातें स्वस्थवृत्त अथवा आयुर्वेद के क्षेत्र में बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं–जैसे देखकर चलो, वस्त्र से छान कर जल पियो, सत्य से पवित्र कर वाणी बोलो, मन को पवित्र कर आचरण करो, पैर धोकर भोजन करने से आयु बढ़ती है। शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या तथा तप से, बुद्धि ज्ञान से पवित्र होते हैं। धन की शुद्धि सबसे बढ़कर महत्वपूर्ण होती है। कमाने में जो पवित्र है, वही धन पवित्र होता है। यज्ञ के पात्रों को हाथ से माँजना चाहिये। जो व्यक्ति अपने को दूसरे ढंग से प्रकट करे उसको मनु जी ने पापी, चोर और आत्मघाती बताया है। हिंसक पापी होता है। आठ प्रकार के हिंसक होते हैं– 1. अनुमति प्रदान करने वाला, 2. काटने वाला, 3. मारने वाला, 4. क्रेता, 5. विक्रेता, 6. पकाने वाला, 7. परोसने वाला, 8. खाने वाला। जो मांस नहीं खाता उसे सौ अश्वमेधयज्ञों का पुण्य फल मिलता है–

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद् यस्तयोः पुण्यफलं समम्।। ५-५३

धर्म के क्षेत्र में सुरापान तथा जुआ खेलना पाप है। मद्यपान करने वाले के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था है। जुए के सम्बन्ध में उल्लेख है कि जुआ प्राचीन काल में वैर बढ़ाने वाला देखा गया अतएव बुद्धिमान् हँसी में भी जुआ न खेले–

द्यूतमेतत्पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्।। ९-२२७

---

* धर्म के दस लक्षण–1. धृति = धैर्य, 2. क्षमा = क्षमा करना, 3. दम = मन का नियन्त्रण, 4. अस्तेय = चोरी न करना, 5. शौच = बाहर-भीतर की पवित्रता, 6. इन्द्रियनिग्रह, 7. धी = बुद्धि को सात्विक तथा निर्मल बनाना, 8. विद्या = यथार्थज्ञान, 9. सत्य, 10. अक्रोध = क्रोध न करना।

दण्ड के सम्बन्ध में बताते हैं कि जुआरी, धूर्त, क्रूर, पाखण्डी, विरुद्धकर्मा और शराबियों को शीघ्र ही देश से निकाल दे। धर्म की स्थापना करके सुखी जीवन बिताने की प्रेरणा दी है।

राज्यव्यवस्था – राजा के लिये निर्देश है कि वह दुर्व्यसनों से सदैव दूर रहे, उसकी दिनचर्या नियमित हो, एक क्षण भी व्यर्थ न होने पावे। मन्त्री विद्वान्, नीतिनिपुण तथा उत्तम चरित्र वाले हों तथा उनकी योग्यतानुसार उन्हें विभाग दिये जाएँ। दूत शास्त्रों का ज्ञाता, इशारे आदि को समझने वाला, चतुर, कुलीन, देश-काल को पहचानने वाला निर्भय तथा बोलने में कुशल हो।

शासन प्रवन्ध के विषय में लिखते हैं कि दण्ड ही प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड ही रक्षक है, सोते हुओं में भी जागता है अतः दण्ड ही कानून है–

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभि रक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।। ७-१८

यदि विचारपूर्वक दण्ड का प्रयोग किया जाय तो सारी प्रजा प्रसन्न रहती है, लाभ होता है; परन्तु विना विचारे दण्ड प्रयोग हो तो विनाश होने लगता है। युद्ध में राजा जीत जावे तो रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्रियाँ सब प्रकार के पदार्थ घृत, तैलादि जीतने वाले के होते हैं।

अभियोग के सम्वन्ध में लिखते हैं कि साक्षी सत्य ही वोले, वकील तथा न्यायाधीश भी पवित्र हों। स्त्रियों की साक्षी स्त्रियाँ, द्विजों की द्विज तथा शूद्रों की साक्षी शूद्र ही दें। गवाही वही प्रमाणित होती है जो आँखों से देखी तथा कानों से सुनी हो। ऋणी, लेन-देन में फँसे, मित्र, सहायक, शत्रु, दोष निकालने वाले, रोग से पीड़ित, अपराधी, राजा, कारीगर, नट, वेदपाठी ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, संन्यासी, गुलाम, बदनाम, डाकू, निषिद्ध कर्म करने वाले, वूढ़े, विक्षिप्त, बालक, अंगहीन, शोकाकुल, नशेखोर, पागल, भूखे-प्यासे, थके हुए, काम पीड़ित, क्रुद्ध और चोर को साक्षी न बनावें। वकील तथा न्यायाधीश आदि साक्षी को डरा-धमका कर विवश न करें। यदि यह सिद्ध हो जाय कि गवाही झूठी दी गयी है तो राजा साक्षी को दण्ड देकर राज्य से निकाल दे। कम से कम तीन साक्षी अवश्य प्रस्तुत किये जायँ।

राजा के कर्त्तव्य बहुत ही कठोर बताये गये हैं। राजा अपने राज्य में शान्ति स्थापना के उपाय करता रहे। राज्य में फैले अराजक तत्त्वों पर सदैव अपनी दृष्टि रखे, अनदेखी न करे। शंका वाले स्थानों में पुलिस चौकियाँ बनवाये। यदि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह राज्यकर्मी ही हो; चोरों का सहयोग करे तो ऐसे व्यक्तियों का तत्काल वध करा देवे। गाँठ

काटने वाले की पहली बार साहस करने पर उँगलियाँ काट देंवे, दूसरी बार गाँठ काटने पर हाय पैर कटवाये और तीसरी बार वही अपराध करने पर उसका वध करना उचित है। चोरी का माल रखने वाले को भी चोर के बराबर दण्ड देवे। चिकित्सक आदि ठीक से चिकित्सा न करें तो उसे दण्ड देवे। किसी अपराध में यदि राजा के संलिप्त होने का प्रमाण मिले तो राजा को सबसे अधिक दण्ड दिया जाय।

इस प्रकार मनुस्मृति में एक आदर्श प्रजातन्त्र की व्यवस्था दी गयी है। मनुस्मृति के अनुसार शासनव्यवस्था चलाने पर अपराधी सिर नहीं उठायेंगे। अपराधियों का दमन ही अपराधों का नियन्त्रण है। शासन द्वारा सभी नागरिकों की सुविधाओं पर ध्यान दिया जाय। राज्य में कोई भी आपराधिक घटना हो तो तत्काल उस पर काबू पाना आवश्यक है। शासन का यह अर्थ है कि कहीं भी राज्य के नियमों का उल्लंघन न हो। शासकवर्ग ज्ञान सम्पन्न, तपस्वी तथा न्यायप्रिय हों। राजा और प्रजा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध होता है। पिता के लिये अपनी सन्तान के प्रति जैसे कर्त्तव्य होते हैं, वैसे ही अपनी प्रजा के प्रति राजा के कर्त्तव्य होते हैं। उन्माद-उपेक्षा और अक्षमता कर्त्तव्य पालन में बाधा डालते हैं अतः ऐसे दोषों से राजा और राज्य कर्मचारी सदैव दूर रहें, कर्त्तव्य पालन को ही अपना धर्म समझें।

***

6. यज्ञ

यज्ञ एक व्यापक शब्द है। यज धातु से नङ् प्रत्यय लगाकर यज्ञ शब्द बनता है। देवपूजा-सङ्गतिकरण - दान इन तीन अर्थों में यज धातु का प्रयोग होता है। सामान्यतः हवन करना ही यज्ञ का अर्थ समझा जाता है परन्तु यह रूढ़ अर्थ है। प्रायः शब्द का भाव विस्तार धातु के अर्थों पर निर्भर होता है। विद्वानों का सत्कार, संगति तथा दान करना यज्ञ का ही रूप है। मनुस्मृति में पाँच महायज्ञों का उल्लेख है, उनमें ये भावनाएँ निहित हैं। ब्रह्मयज्ञ में ईश्वर-आराधन, देवयज्ञ में हवन, बलिव श्वदेव में जीवों को भोजन देना और अग्नि में पकवान्न की आहुति देना, अतिथियज्ञ में अतिथि सत्कार तथा पितृयज्ञ में माता-पिता की सेवा। भाव विस्तार की अपेक्षा इसके अभिप्राय को जानना अधिक उपयोगी होगा। यजुर्वेद में एक सूक्ति है 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' आयु को यज्ञ से समर्थ बनाओ अर्थात् जीवन भर यज्ञ से जुड़े रहो। जीवन यज्ञमय हो, अपने कार्यों में यज्ञ की भावना का समावेश करो। ऋग्वेद की एक सूक्ति है 'प्रातर्यजध्वमश्विना' हे स्त्री-पुरुषो प्रातः यज्ञ करो। एक अन्य सूक्ति में भी यही बात प्रतीत होती है 'प्रातर्यावाणा प्रथमा यजध्वम्' प्रातः उठने वालो पहले यज्ञ करो। अनेकों स्थलों पर ऐसा संकेत मिलता है कि प्रातःकाल जो यज्ञ करते हैं वे प्रशंसा के पात्र हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो यज्ञ को सर्वार्थसाधक बताया है। इसका सम्बन्ध लोक-परलोक दोनों से जोड़ दिया गया है। इसकी प्राथमिकता तथा प्रमुखता वेद से ही सिद्ध होती है–'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' में बताया गया है कि देवताओं ने अपनी पवित्र भावनाओं से यज्ञ किया, वे ही प्रथम धर्म थे। एक मन्त्र में बताया गया है कि यज्ञशील व्यक्ति के घर में ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये स्वाहा की आवाज करते हुए यज्ञ करो, उस यज्ञ में उपस्थित होने के लिये मैं देवताओं का आह्वान करता हूँ, उन्हें बुलाता हूँ–

स्वाहा यज्ञं कृणोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे।
तत्र देवाँ उपह्वये।। ऋ० १.१३.१२

एक अन्य मन्त्र में आदेश दिया है कि हे ब्रह्मणस्पते वेदविद् उठो और यज्ञ से देवों को जगाओ, बोध कराओ तथा आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति एवं यजमान को बढ़ाओ। यजमान की पूर्णतः वृद्धि हो–

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय।। अथर्व० १९.६३.१

देवताओं का सम्बन्ध यज्ञ से है, देवों को जगाने या आमन्त्रित करने का यज्ञ ही

एकमात्र साधन है। देवताओं के विना कोई कार्य सिद्ध नहीं होता अतः उन्हें प्रसन्न करने के लिये यज्ञ करना अनिवार्य है। देवता दो प्रकार के होते हैं– 1. अग्नि-वायु-जल-पृथिवी आदि जड़ देवता, २. विद्वान् तथा माता-पिता। यज्ञ करने से पृथिवी आदि देवता पुष्ट होते हैं और विद्वान् उपस्थित होकर अपनी विद्या को वितरित करते हैं। विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करने का यही श्रेष्ठ उपाय है। ऋग्वेद की एक सूक्ति में वताया गया है कि देवताओं की संगति एवं सम्मान करने से सुख मिलता है। 'यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नम्'। अच्छे लोगों की संगति करने के लिये यज्ञ करना आवश्यक है। यज्ञ से अग्नि की पूजा होती है। वेद का आदेश है कि जातवेदस अग्नि को यज्ञ से वढ़ाओ, श्रद्धापूर्वक मन-वाणी से यज्ञ करो, अग्नि में आहुति प्रदान करो– 'यज्ञेन वर्धत जातवेदसमग्निं यजध्वं हविषा तना गिरा। ऋ० २.२.१

उक्त मन्त्र में दो वातें सामने आती हैं। एक तो श्रद्धापूर्वक यज्ञ करना चाहिये। दूसरा– विधानपूर्वक अर्थात् जैसी विधि हो वैसे यज्ञ करने से पूर्ण फल की प्राप्ति होती है। एक सूक्ति है 'श्रद्धया हूयते हविः' = श्रद्धा के द्वारा ही हवि प्रदान की जाती है। श्रद्धा न हो तो यज्ञ करने से लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। गीता में भी वताया है कि 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' = श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरी वात विधान की है। इसके सम्वन्ध में वाल्मीकि-रामायण में निर्देश है– 'विधि हीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति' विधिहीन यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का शीघ्र ही विनाश हो जाता है। यज्ञ से होने वाली उपलब्धियाँ असंख्य हैं। अथर्व वेद में सूक्ति है– 'होतृषदनं हरितं हिरण्ययम्' = होता का घर हरा भरा रहता है और स्वर्ण आदि ऐश्वर्य से भरपूर रहता है। अथर्व वेद के ही अन्य मन्त्र में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बतायी गयी हैं कि विद्वान् जन ऋतु के अनुसार यज्ञ को समृद्ध करते हैं, वैसे ही हव्य पदार्थ, चमस आदि यज्ञपात्रों तथा उपकरणों का निर्माण करते हैं। विद्वानों के द्वारा चलने योग्य मार्गों से चलो जिनसे चलकर यज्ञ करने वाले स्वर्ग (सुख विशेष) को प्राप्त करते हैं–

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
ते भिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यै रीजाना स्वर्गं यन्ति लोकम्।। अथर्व १८.४.२

उक्त मन्त्र में यज्ञ प्रक्रिया को वाँध दिया गया है। ऋतु के अनुसार यज्ञ किया जाय। हवन सामग्री ऋतु के अनुकूल तैयार की जाय। पुरोडाश, अन्न से तैयार हव्य पदार्थ सावधानी से पकाया जाय। यज्ञपात्र शास्त्रोक्त रीति से तैयार किये जायँ, यहाँ तक कि सामग्री तैयार करने वाले उपकरण भी ठीक होवें। अथर्व वेद का संकेत है कि विधिपूर्वक ऋतु अनुकूल यज्ञ करने से स्वर्ग प्राप्ति होती है।

ऋग्वेद में उल्लेख है कि जो दम्पति (पति-पत्नी) नित्य मन लगाकर यज्ञ करते हैं और वितरण करते हैं वे अच्छी प्रजा (सन्तान), पूर्ण आयु और सुवर्णादि धन को प्राप्त करते हैं–

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः।
देवासो नित्ययाशिरा।। ऋ० ८.३१.५
पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुतः।
उभा हिरण्यपेशसा।। ऋ० ८.३१.८

पूर्ण यज्ञ का फल तो महान् होता है। ऋग्वेद में अग्नि और सोम की आहुति का भी विशेष फल बताया है–

अग्निषोमा य आहुतिं यो वां दाशाद् हविष्कृतिम्।
स प्रजया सुवीर्यं विश्वमायुर्व्यश्नवत्।। ऋ० १.९३.३

अग्नि और सोम को आहुति प्रदान करके हवि करने से प्रजा, पराक्रम और पूर्ण आयु की उपलब्धि होती है। शुद्धि तो यज्ञ का प्रमुख उद्देश्य है ही। वायु की शुद्धि होकर प्रदूषण नष्ट होता है, विचारों की शुद्धि होती है, विवेक उत्पन्न होता है और अनिष्ट निवारण होता है। यज्ञ हमको दान सिखाता है क्योंकि इसमें हवि प्रदान की जाती है। जीवन का लक्ष्य केवल संग्रह ही नहीं अपितु त्याग भी है। यजुर्वेद की शिक्षा है 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।' त्यागपूर्वक भोग करो, किसी के धन को लोभ से मत ग्रहण करो। यह भावना यज्ञ से उत्पन्न होती है। भोग की अपेक्षा त्याग श्रेयस्कर है। लोभ के कारण मनुष्य भयंकर कार्य भी कर बैठता है। यज्ञ के द्वारा अपराधों में कमी आ सकती है। विद्वानों का सत्कार यज्ञ के द्वारा सर्वाधिक होता है। यज्ञ के समय बहुमूल्य उपदेश होगा जिससे बहुत से लोगों को लाभ पहुँचेगा और विद्वानों को दक्षिणादि से सम्मानित किया जायेगा। यज्ञ मिलकर बैठना सिखाता है, बिखरे हुओं को एकत्र करता है। अच्छी संगति मिलती है जिससे मनुष्य का सुधार होता है। यज्ञ के माध्यम से धर्म की प्रेरणा मिलती है, आर्यत्व का प्रसार होता है। इससे आस्तिकता भी बढ़ती है। जहाँ भी यज्ञ हो हमारा प्रयास यह रहे कि अधिक से अधिक परिचितों को बुलावें।

यज्ञ से रोगनिवृत्ति भी होती है। रक्तचाप, त्वग्दोष, दमा, श्वास तथा ज्वर जैसे रोगों का उपचार यज्ञ से सम्भव है। एक ऋषि ने अपना अनुभव लिखा है कि जल चिकित्सा से सिर दर्द ठीक हो जाता है। औषधियों को जानने वाले ही इस उपलब्धि के पात्र हैं। इस क्षेत्र में आयुर्वेद का ज्ञान अपेक्षित है। औषधियों के गुणों को जानने के पश्चात् ही रोगों के अनुसार उनका प्रयोग किया जा सकता है। आज के युग में तनाव एक भयंकर रोग है जिसका उपचार यज्ञ, साधना तथा ध्यान के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। यज्ञ के

द्वारा चित्तवृत्तियों को एकाग्र करने का अभ्यास हो जाता है, एकाग्रता विवेक उत्पन्न करती है जिससे मनुष्य सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेता है। नित्य निर्धारित समय पर शौचस्नानादि से निवृत्त होकर नियमित रूप से यज्ञ करें। तत्पश्चात् वेद के एक मन्त्र का भाष्य अवश्य पढ़ें और उस पर मनन भी करें। भक्ष्याभक्ष्य का विचार करके भोजन ग्रहण करें। भोजन करने का स्थान भी शुद्ध हो और रूचिपूर्वक भोजन किया जाय। जिस कार्य का समय हो वही कार्य करें। रोज-रोज दिनचर्या न बदलें। व्यायाम के रूप में कुछ योगासन कर लें साथ ही प्राणायाम भी हो जाय तो आशातीत सफलता मिल सकती है। यज्ञ से वृष्टि भी होती है, अनेकों विद्वानों ने यह परीक्षण किया है। महाभारत भीष्मपर्व में श्रीकृष्ण जी अर्जुन को उपदेश देते हैं–"कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञ से बचे हुए प्रसाद रूप अमृत को खाने वाले परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिये तो यह मनुष्य लोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है ?"

यज्ञानुष्ठान के लिये योग्य व्यक्ति का ही वरण करें जिसमें पात्रता हो, वही विद्वान् यजमान की कामनाओं को पूर्ण कर सकता है। यज्ञ कराने वाले का लक्ष्य हो 'सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः' यज्ञ में किसी प्रकार की भी त्रुटि होगी, उतने ही फल से यजमान वञ्चित रह जायेगा। एक ऋचा में निर्देश है कि हवि देकर यज्ञ करो, सब आकर बैठो, मुख्य याजक बार-बार परमेश्वर की कामना करे। जो लोग यज्ञ का विधान जानते हैं, वे ही सम्पूर्ण कार्यवाही को सम्पन्न करें–

हविष्कृणुध्वमा गमदध्वर्युर्वनते पुनः।
विद्वाँ अस्य प्रशासनम्।। ऋ० ८.७२.१

मन्त्रपाठ-कर्मकाण्ड आदि का विधिवत् प्रशिक्षण लेकर ही इस कार्य को करने का अधिकार है। आरम्भ से ही ऋषियों को यज्ञ का पूर्ण लाभ मिलता रहता है क्योंकि वे शोधपूर्ण कार्य करते थे, उनका जीवन यज्ञमय था। हम ऋषियों की सन्तान हैं, आर्य हैं, उनके आदर्शों को अपनाना हमारा कर्त्तव्य है। यज्ञ आर्यों की पहचान है। यज्ञ से हमारा आर्यत्व सुरक्षित रहेगा और संसार में हमारी प्रतिष्ठा भी होगी।

❋❋❋

7. तप की महिमा

परमात्मा ने अन्न और बल के पश्चात् तप की सृष्टि की। पुरुष की सोलह कलाओं में तप का भी समावेश किया गया। तप को इसलिये बनाया कि बल को नियन्त्रित किया जा सके। यदि पुरुष की कलाओं में से तप को पृथक् कर दिया जाय तो बल उग्र रूप धारण कर सकता है। शक्ति का सदुपयोग करने का काम तप का है। रहस्यमयी ब्रह्मविद्या का आधार तप है। इन्द्र ने १०१ (एक सौ एक) वर्ष का कठोर तप करके ब्रह्मविद्या के रहस्य को जाना था। ऋग्वेद में प्रमाण है कि सृष्टि का आरम्भ तप से हुआ–'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत'। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६० में सृष्टि का संकेत मिलता है। इसी सूक्त का हवाला ऐतरेय ब्राह्मण में दिया गया है। उसमें एक कथा के द्वारा समझाया गया है– 'प्रजापति ने चाहा मैं सन्तान उत्पन्न करूँ और बहुत हो जाऊँ। उसने तप तपा। उसने तप करके इन लोकों को उत्पन्न किया।'

–ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चिका ५ अध्याय ५

सृष्टि प्रक्रिया का नाम ही तप है। इसी तथ्य के आधार पर मनुष्य जब किसी कार्य को करने का संकल्प लेता है तो उसे सर्वप्रथम तप को स्वीकार करना होता है। तप के अभाव में निर्माण सम्भव नहीं।

तप के सम्बन्ध में जनसामान्य की धारणा है कि आग जला कर उसके पास बैठे रहना ही तप है। शीत का प्रकोप होने पर आग से तपाना तो ठीक है परन्तु अनावश्यक रूप से ऐसा करना मस्तिष्क की दुर्बलता ही कही जायेगी। तप का शाब्दिक अर्थ, कठोर व्रत धारण करना है। तप से ही तपस्या शब्द बना है जिसका अर्थ व्रतचर्या अर्थात् व्रत का आचरण करना है। शिष्य ने गुरु जी से पूछा–'तपः किं लक्षणं प्रोक्तम्' तप का क्या लक्षण है ? गुरु जी ने उत्तर दिया–'तपः स्वकर्म वर्त्तिम्' अपने कर्त्तव्य में लगे रहना तप है। आचार्य चाणक्य ने लिखा है 'तपः सार इन्द्रियनिग्रहः' इन्द्रियों को वश में रखना तप का सार है। तप करने वाले को तपस्वी या तापस कहते हैं। एक विद्वान् ने तापस का लक्षण लिखा है कि शीत - गर्मी - भय - प्रेम - सम्पन्नता या विपन्नता (दारिद्रय) जिसके कार्य में विघ्न नहीं डालते वह ही तापस कहा जाता है–

यस्य कार्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै तापस उच्यते।।

खोयी हुई शक्ति को अर्जित करने का सबसे बड़ा साधन तप है। जब मनुष्य ऐसी

स्थिति में पहुँच जाय कि उसे कोई विकल्प न सूझे तो तप ही उसे निराशा के गर्त से निकालता है। यदि जीवन में थोड़ा भी तप का अभ्यास किया है तो कभी निराश नहीं होना पड़ेगा, उसके कार्यों को विराम नहीं लगेगा। किंकर्त्तव्यविमूढ़ वे ही होते हैं जिन्होंने अपने को तप में नहीं ढाला। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है कि मनुष्य को यदि ज्ञान न हो तो वह तप भी नहीं कर सकेगा। इसके लिये पूर्ण जानकारी होनी चाहिये। यदि कोई कार्य परिश्रम के द्वारा सिद्ध होता है और व्यक्ति पहाड़ों की गुफा में तप करने लगे तो कार्य सिद्धि कदापि न होगी। कभी-कभी भोले छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये मनौती मनाते हैं कि वे उत्तीर्ण होंगे तो सत्यनारायण की कथा करायेंगे अथवा मन्दिर में प्रसाद चढ़ायेंगे। इस सम्बन्ध में मैं छात्रों की आँखें खोल देना चाहता हूँ कि वे हलवाई की दुकान की सारी मिठाई भी मन्दिर में डाल देवें और पुस्तकों को न देखें तो उत्तीर्ण होने में सन्देह है। यह परिश्रम से बचने का एक बहाना है। यदि मोक्ष प्राप्त करना है तो कहीं एकान्त में बैठकर साधना करनी होगी। इस प्रकार शारीरिक और आध्यात्मिक तप के ये दो रूप हैं। परन्तु प्रथम स्थान तप का ही है। एक ऋचा में कुछ ऐसा ही भाव है कि वेदविद्या के स्वामी परमात्मन् तुम्हारा स्वरूप पवित्र और विस्तृत है, सभी मूर्त पदार्थों में चारों ओर व्यापक है। जिसने अपने शरीर को नहीं तपाया वह कच्चा है, तुम्हारे आनन्द को नहीं भोग सकता। तप का पूर्ण अनुष्ठान करने वाले पुरुष ही तुम को प्राप्त हो सकते हैं वे ही तुम्हारे आनन्द को भोग सकते हैं–

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत।। ऋ० ९.८३.१

वास्तव में जिसने कठिन परिश्रम नहीं किया वह कच्चा है। द्वन्द्वों को सहन करने वाला व्यक्ति ही तप कर सकता है। इसे ही तितिक्षा कहते हैं। तपस्वी के कुछ लक्षण होते हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि तप की सिद्धि होने से अशुद्धि का क्षय हो जाता है तत्पश्चात् शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त होती है–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः।। योग० २-४३

तपस्या का फल यह है कि इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, शरीर पर पूर्ण अधिकार हो जाता है और कभी भी काम में लग सकते हैं, अरूचि नहीं होगी। शारीरिक क्षमतानुसार अपेक्षित श्रम अवश्य ही करना चाहिये। तप के प्रभाव से परमात्मा की भी प्राप्ति सम्भव है। मनुजी ने तप को मोक्ष का साधक बताया है। तप के द्वारा अपाला ने असाध्य रोग पर विजय प्राप्त की थी। तपस्वी ही ऋषि बनते हैं और मृत्युञ्जय बनकर अमृतत्व की ओर

अग्रसर होते हैं। सभी कामनाओं की पूर्ति तप से हो जाती है। एक मन्त्र में तपस्वी की प्रशंसा की गयी है कि जो लोग तप के कारण पराजित नहीं होते, जो तप के द्वारा मोक्ष के आनन्द को पाते हैं, जो महान् तप करते हैं, लोग उनके पास अवश्य जावें–

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।। ऋ० १०.१५४.२

प्रस्तुत मन्त्र में तप का प्रभाव तथा तपस्वी का महत्त्व बताया गया है। तप करने वाला किसी से दबता नहीं। साधारण मनुष्यों को तपस्वियों के पास अवश्य जाना चाहिये। जीवन का उचित मार्ग निर्देश तपस्वी ही कर सकते हैं। मनुजी ने बताया है 'तपसा किल्विषं हन्ति' तप से पाप नष्ट हो जाते हैं। सभी आर्यबन्धुओं से निवेदन है कि स्वयं भी तप करें और सन्तान को तपस्वी बनावें। छात्र जीवन से ही तप का अभ्यास होगा तो जीवन तप के उत्कर्ष को प्राप्त होगा। विलासी जीवन जाति को कमजोर बनाता है, केवल ऐश्वर्य से जीवन पूर्ण नहीं माना जाता। एक दिन ऐसा भी आता है कि मनुष्य को अपने पर बड़ी खिन्नता होती है और वह अपनी भूल को स्वीकार करता है। युवावस्था बीत जाने पर फिर कुछ नहीं बनता, वृद्धावस्था में पश्चात्ताप होता है। अतः हम व्रत लेवें कि हम तप से अपनी पीढ़िया सुधारें।

❋❋❋

8. स्वाध्याय

विद्या पूर्ण हो जाने पर आचार्यकुल से विदा होते समय गृहस्थोपयोगी उपदेश दिया जाता है– 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः' 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'। स्वाध्याय में प्रमाद (लापरवाही) न करो। स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद न करो। आचार्य का अभिप्राय है कि गृहस्थ जीवन की उलझन में फँस कर पढ़ना - पढ़ाना न छूट जाय। अर्जित ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिये पढ़ते-पढ़ाते रहो। पढ़े हुए पर बार-बार मनन करना और यथाशक्ति ग्रहण करना अर्थात् जीवन में ढालना स्वाध्याय कहलाता है। आकाश में उड़ता हुआ पक्षी यदि पंख चलाना बन्द करदे तो तत्काल भूमि पर आ गिरेगा। यही स्थिति स्वाध्याय को त्यागने वाले की होती है। स्वकर्त्तव्यों का बोध वेद शास्त्रों के द्वारा होता है, यदि उनका अवलोकन ही न करें तो बोध किस प्रकार हो ? ऋषियों ने तो स्वाध्याय को ऋत से जोड़ दिया है–'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च' ऋत अर्थात् ईश्वरीय नियमों को जानो और स्वाध्याय-प्रवचन करते रहो। ऋत का ज्ञान शास्त्रों के द्वारा होता है। मुद्गल ऋषि के पुत्र 'नाक मुनि' का कथन है कि वेद और धर्मशास्त्रों का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि वही तप है और उन्हीं से धर्म का ज्ञान होता है। स्वाध्याय एक प्रकार का तप ही है। अष्टाङ्ग योग के अन्तर्गत प्रतिपादित नियमों में स्वाध्याय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः' योग० २-३२।। इस योगसूत्र के अनुसार स्वाध्याय के बिना योग भी अपूर्ण रह जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने स्वाध्याय को क्रियायोग माना है–

'तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः'।

शिक्षित व्यक्ति अपने जीवन में कुछ न कुछ पढ़ता ही रहता है; यह आवश्यक नहीं कि वह वेद शास्त्रों को ही पढ़े। कभी-कभी मनोरंजन के लिये भी पढ़ा जाता है। आज-कल जैसा कि देखने में आता है, नयी पीढ़ी चमत्कारी साहित्य की ओर आकृष्ट है। अपराध कथाओं के पढ़ने से अपराध बढ़ेंगे, चरित्रहीन की स्तुति करने से चरित्रहीनता फैलेगी। जासूसी उपन्यासों में ये बातें और भी बढ़-चढ़ कर होती हैं। ऐसा अध्ययन लाभ तो पहुँचायेगा ही नहीं अपितु मन को असाध्य अवस्था में पहुँचा देगा। मनुष्य होकर भी दिशाहीन रहे तो जीवन निरर्थक हो जाता है। इस विषय में मनुजी एक साधारण सी बात बताते हैं कि मनुष्य शास्त्र को जैसे-जैसे समझता जाता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता जाता है और विशेष तथ्यों में उसकी रूचि बढ़ती जाती है–

यथा-यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा-तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते।। मनु० ४-२०

शास्त्रों से हमारा सम्पर्क सदैव बना रहे तो पतन का भय नहीं रहेगा। पदे-पदे शास्त्रों की शिक्षा हमें सम्बल प्रदान करेगी। शास्त्रज्ञानविहीन भटका हुआ मानव न तो अपना ही कल्याण कर पाता है और न दूसरों का ही, प्रत्युत सम्भव है कि वह असंख्य जनों को अपने जैसा ही बना दे। महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि परमात्मा का साक्षात्कार स्वाध्याय से होता है–'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः' योग० २-४४।। स्वाध्याय चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो परमात्मा में मन स्थिर हो जाता है। मन की स्थिरता पर ही जीवन की स्थिरता निर्भर होती है। चञ्चल मन किसी भी उपलब्धि का पात्र नहीं। जब तक वैचारिक प्रदूषण दूर नहीं होता तब तक कोई भी सुविचार मन में स्थान नहीं बनाता। शंकाएँ तो बहुत होती हैं परन्तु समाधान नहीं मिलता। स्वाध्याय की उपलब्धियों पर प्रकाश डाला गया है–

यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
सर्वं सपूत मश्नाति स्वदितं मातरिश्वना।।
पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्।। ऋ० ९.६७.३१, ३२

मन्त्रों में पवित्र ज्ञान वेद वाणी का अध्ययन करने वाले की प्रशंसा की गयी है। जो भी पवित्र ज्ञान वेदवाणी का अध्ययन करता है वह ऋषियों के द्वारा भरे हुए रस को प्राप्त करता है और वायु के द्वारा स्वादित पवित्र पदार्थों को भोगता है। वेदों का स्वाध्याय करने वाले के लिये दूध, घी, मधु तथा जल का सरस्वती (ब्रह्मविद्या) दोहन करती है। स्वाध्यायकर्ता के लिये संसार के समस्त पदार्थ सुखद रूप में प्रस्तुत होते हैं, एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है जिसके बाद किसी प्रकार की कमी नहीं प्रतीत होती। इन्द्रियों की विशेषता है कि इनकी तृप्ति नहीं होती। भोगों से जितना ही सम्पर्क बढ़ेगा उतनी ही व्याकुलता बढ़ती जायेगी। केवल आत्म सन्तोष सुखमय वातावरण तैयार करता है। ऐसा तभी सम्भव है जबकि स्वाध्याय निर्बाध रूप से चलता रहे। सद्ग्रन्थों का संग्रह करते रहें। ऋषिकृत ग्रन्थों से ही कल्याण सम्भव है। ऋषि निःस्वार्थ भाव से अपना ज्ञान सब को समान रूप से वितरण करते हैं। जन कल्याण ही उनका उद्देश्य होता है। स्वाध्याय में आने वाली बाधाओं को यथाशक्ति दूर करना चाहिये। इसी दृष्टि से मनुजी सावधान करते हैं कि धनार्जन के सभी साधनों को जो स्वाध्याय में बाधा डालते हों, छोड़ देवें।

'सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः।' मनु० ४-१७

इसका यह भाव है कि हमारा व्यवसाय स्वाध्याय को न रोक दे। सभी विद्वानों ने स्वाध्याय की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। हमारा कर्त्तव्य है कि अपने पूर्वजों का अनुसरण कर अपने जीवन को उन्नत बनावें।

❋❋❋

9. शरीर-रथ

वैदिक दर्शन मानवजीवन के हितकर तथ्यों को प्रस्तुत करता है। मनुष्य का पूर्ण जीवन उसकी यात्रा है। यात्रा करने के लिये उसे एक वाहन मिला हुआ है। वाहन में सारी व्यवस्था है। वह प्रकाश से युक्त है, उसे खींचने वाले घोड़े बलवान हैं, उसका मार्ग स्नेह से भरपूर है, पहियों की पुट्ठियाँ मजवूत हैं और वह सभी प्रकार के ऐश्वर्य को ढोने में सक्षम है। रथ पर एक राजा बैठा हुआ है, वह प्रेरणा भी करता रहता है। यह रथ बिना रोक-टोक कहीं भी जा सकता है। पृथ्वी से द्युलोक पर्यन्त उसका क्षेत्र है। पाँच तत्त्वों से बना हुआ है। तीन बन्धन उसे जकड़े हुए हैं। उसमें बैठने वाला दिव्य ज्योति की ओर अग्रसर है। उसकी गति को दिशा देने वाला एक यन्त्र उसमें लगा हुआ है वही उसे इधर-उधर घुमाता है। रथ का प्रयोजन देवकार्यों की रक्षा करना तथा अमृतमय कोश को प्राप्त करना है। रथ में जो राजा बैठा है उसे संसार-सागर से पार ले जाना है, कहीं बीच में ही न डूब जाय।

हमारी आयु ही जीवनयात्रा की अवधि है, आत्मा यात्री है और शरीर रथ है। परमात्मा ने शरीर को पूर्ण बनाया है। इसमें दो प्रकार की ज्योति है। बाहर का देखने के लिये आँखें हैं और अन्दर का देखने के लिये बुद्धि है। आँखों से जो नहीं देख पाते उसे बुद्धि से विचार लेते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ इसको खींचने वाले घोड़े हैं। स्नेह से मार्ग तय होता है हम जितनी अधिक देखभाल करेंगे शरीर उतना ही अधिक चलेगा। अस्थियाँ ही इसकी पुट्ठियाँ हैं। आत्मा ही राजा है, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी पाँच तत्त्वों से इसका निर्माण हुआ है। आत्मा सदैव किसी अज्ञात ज्योति को खोजता रहता है। मन इसे दिशानिर्देश करता है कि वह कहाँ जाय ? इस शरीर को उत्तम कार्यों के लिये बनाया गया है। शरीरस्थ आत्मा को सांसारिक विकृतियों से बचाये रखना आवश्यक है। आत्मा निर्लिप्त होता है, परन्तु उसे शरीर में रहकर वहुत से दोष ग्रस लेते हैं, विषयों की ओर आकर्षित होने से ऐसा होता है। एक ऋचा में बताया गया है–

तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वात इव ध्रजीमान्।
तव श्रृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति।। ऋ० १.१६३.११

जीव को सावधान किया गया है कि यह शरीर पतनशील है पता नहीं कब गिर जाय ? तेरा चित्त वायु की भाँति गतिमान् है, इन्द्रियाँ सर्वत्र विचरण करती हुई अपने-अपने विषयों में लगी हुई हैं। कठोपनिषद् में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। कठ० १.३.३-४

आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा मन को लगाम जानो। इन्द्रियाँ रथ के घोड़े यदि ठीक न हों तो रथ की सुरक्षा सन्देह में पड़ जाती है। घोड़ों को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है। मन लगाम है। मन को काबू में रखने वाला सारथि है। बुद्धि का यह कार्य है कि मन को वश में करे। मन का दुराग्रह नहीं चलना चाहिये। ये घोड़े जहाँ विचरण कर रहे हैं, वहाँ अच्छी घास दिखायी दे रही है जिससे ये मन की उपेक्षा करके चरने लगते हैं। अधिक चरते-चरते घोड़े मदमत्त हो जाते हैं फिर इनमें आलस्य-प्रमादादि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में रथ का बचना कठिन हो जाता है इन्द्रियाँ नियमित होकर विषयों में रमण करें तो आत्मा के लक्ष्य की सिद्धि सम्भव है। इन्द्रियों को विषयोन्मुखी न होनें देने में ही कल्याण है। जितने से शरीर चलता रहे उतना ही भोजन दिया जाय, भोजन ही लक्ष्य हो जाय तो श्रेय की सिद्धि न हो सकेगी। आत्मा परम ज्योति का साक्षात्कार करना चाहता है और मन सांसारिक व्यसनों में फँसना चाहता है। इस विरोध का प्रतिकार बुद्धि ही कर सकती है।

हमारा शरीर संसार को पार करने का साधन है और आत्मा आध्यात्मिक ऐश्वर्य को प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। संसार का अन्तिम छोर मृत्यु है, तब तक शरीर का महत्त्व भी कम नहीं। इस भौतिक साधन को भी पुष्ट होना चाहिये। इसे पतनशील मानते हुए भी सौ वर्ष तक रोको। यह शरीर पत्थर की भाँति सुदृढ़ हो और न्यूनतम आयु अर्थात् एक शतक पूर्ण हो–

एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्।। अथर्व० २.१३.४

शरीर को पुष्ट बनाने के लिये घृत का सेवन भी लिखा है– 'घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व' यजुः १२-४४। घृत से तन को पुष्ट करो। शरीर क्षीण होगा तो विचारधारा भी वैसी ही होगी। शारीरिक उन्नति के लिये हमें स्निग्ध एवं पौष्टिक तत्त्वों का सेवन करना चाहिये। भोजन पौष्टिक होने के साथ-साथ सात्विक भी हो। भोगों को भोगना और मर जाना ही जीवन की परिभाषा नहीं है। मानव जीवन की सार्थकता क्या है, इस पर भी तनिक विचार करना चाहिये। कर्मफलव्यवस्था के अन्तर्गत तो यही सिद्धान्त है कि हम यदि शरीर का दुरुपयोग करते हैं तो आगामी जन्म में मानव शरीर से भी वञ्चित हो सकते हैं। रथ चलाने वाला यदि गलत चलाता है तो रथवान् बदल दिया जाता है। हमें सावधान रहना चाहिये

कहीं मानवतन हम से न छिन जाय। वेद का आदेश है कि हे पुरुष तेरा उत्थान ही हो पतन नहीं, मैं तुझे जीने के लिये सामर्थ्य प्रदान करता हूँ। तू इस अमृतमय सुखद रथ पर चढ़ और अपने सद्विचारों को वितरित कर–

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आरोहेममममृतं सुखं रथमय जिर्विर्विदथमावदासि।। अथर्व० ८.१.१६

कभी भी अपनी विचारधारा को मत गिरने दो। वेद के अमृतमय उपदेश को ग्रहण करो और दूसरों को भी उससे अवगत कराओ। मनुष्य के उत्थान-पतन में विचारधारा ही मुख्य भूमिका निभाती है। यदि मनुष्य इन्द्रियों की चिन्ता में लगा रहता है तो विषयों की ओर भागता है, परन्तु यदि वह आत्मा की ओर झाँकता है तो आत्मस्थ हो जाता है फिर इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ठीक प्रकार से काम करने लगते हैं। आत्मविश्वास में बहुत बड़ी शक्ति है।

❋❋❋

10. तीर्थयात्रा

लोक में तीर्थयात्रा का प्रचलन वहुत पुराना है, जोकि मानव की धार्मिक बुद्धि का एक प्रतीक है। जनमानस में धारणा व्याप्त है कि तीर्थों के दर्शन से अथवा वहाँ निवास करने से आत्म कल्याण होता है। श्रवण कुमार के माता-पिता की कथा इसका प्रबल प्रमाण है। कुष्ठ के रोगी को तीर्थसेवन का परामर्श दिया जाता है। इस भावना में प्रायः रोग मुक्ति का लक्ष्य निहित है, अनेकों विद्वानों ने इस पर विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है। ऐसा भी कहा गया है कि तीर्थ के सम्वन्ध में जिसकी जैसी धारणा होती है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है–

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।।

यदि इसे पक्षपात कहा जाय तो अनुचित न होगा। जिसे सवका विश्वास प्राप्त करना होता है, वही ऐसी वात करता है। विज्ञजन क्या इस वात को स्वीकार कर लेंगे कि विश्वास ही किसी पदार्थ की उपयोगिता का मापदण्ड है ? मैं कहूँगा कि कदापि नहीं। एक परिवार पूर्ण विश्वास के साथ वद्रीनाथ की यात्रा के लिये चल पड़ा परन्तु दुर्घटनाग्रस्त होकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया और कोई भी सदस्य घर को वापस न आ सका। गंगास्नान में दृढ़ विश्वास रखने वाले कितने ही श्रद्धालु प्रतिवर्ष जलमग्न हो जाते हैं। वाराणसी में गोदोलियाघाट पर सीढ़ियाँ काई से चिकनी रहती हैं। वहाँ स्नान करने वाले प्रायः डूव कर मरते रहते हैं फिर भी कोई विवेक से काम नहीं लेता। एक वार समाचार-पत्र में पढ़ा कि अरव को जाने वाला हाजियों का जहाज डूव गया और कोई भी यात्री बचाया न जा सका। उन्नीसवीं शताब्दी का बनारस भी विचित्र था। नवदम्पति जोड़ा मन्दिर में दर्शन के लिये आता है और अपना सर्वस्व अर्पित कर अपमान सहित वाहर कर दिया जाता अथवा मन्दिर में मृत्यु के हवाले हो जाता। उन मन्दिरों में कितनी ही ललनाओं के शील भंग किये जाते हैं। अभी भी इन कुरीतियों से मुक्ति नहीं मिली है। इलाहावाद संगम पर विचित्र दृश्य देखा। मद्रास के कुछ श्रद्धालुओं की दुर्दशा देखने को मिली। पितृपक्ष में वे लोग अपने पितरों को तारने आये थे। पण्डों ने एक साथ सव की हजामत करायी। स्नान के बाद संकल्प लिया गया। पचास रुपये से लेकर ढाई सौ रुपये तक का संकल्प प्रतिव्यक्ति ने लिया। पण्डा जी ने बताया कि पितरों को तारने की कम से कम फीस 50 रु० है। जो व्यक्ति 50 रु० से कम संकल्प लेगा उसके पितर अधवर में ही रह जायेंगे। फलस्वरूप वहाँ पर विद्यमान वीस पुरुषों ने एक ही साथ संकल्प लिया और दक्षिणा पण्डा जी को समर्पित कर दी।

इन परिस्थितियों में तीर्थ उसी को कहना चाहिये जहाँ पर मानवता को झकझोर देने वाले कुकृत्य होते हों। सभी सम्प्रदायों की एक-सी स्थिति है। कोई भी सम्प्रदाय इस प्रकार के दूषण से बचने का उपाय नहीं सुझाता। जब तीर्थों का यह हाल है तो मानवता को कहाँ आश्रय मिलेगा ? तारने वाला ही डुबा दे तो कौन बचा सकेगा ? जगत्पावनी गंगा के पावन तट पर भी बलात्कार होता हो तो सतीत्व की रक्षा कैसे होगी ? अनाथों के नाथ विश्वनाथ के मन्दिर में भी भक्तों की जेब कट जाती हो तो ठगों से कैसे मुक्ति मिलेगी ? तीर्थ के सम्बन्ध में अनेकों आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार का दूषित वातावरण देखकर तीर्थों का सेवन अनुपयोगी प्रतीत होता है। सुधार के नाम पर बिगाड़ कहीं अधिक हो रहा है। मिथ्या भावना ने मनुष्य के विवेक पर हमला किया है। उच्च शिक्षित एवं सुसम्पन्न व्यक्ति भी इस अन्धे-अनुकरण से बच नहीं पाते। कुछ अंशों तक तीर्थों के अधिपति भी इस में कारण हैं। आय बढ़ाने के लिये भाँति-भाँति के चमत्कारयुक्त प्रलोभन दर्शकों को दिये जाते हैं। कुम्भ स्नान से पाप दूर होते हैं और स्वर्गद्वार खुल जाता है। क्या उन धर्म के ठेकेदारों ने स्वर्ग का द्वार देखा है ? जो लोग हमेशा गंगा के तट पर रहते हैं, कभी भी स्वर्ग जाते हुए नहीं देखे गये। तो फिर बारह वर्ष में एक बार स्नान करने वाले का क्या निश्चय है कि उसे स्वर्ग मिल ही जायेगा ? १६७४ ई० में हरिद्वार कुम्भ के मेले में चालीस लाख लोगों ने स्नान किया परन्तु किसी की भी सूचना नहीं मिली कि उसे स्वर्ग मिल गया। एक परिवार अपने साथ काशीफल लिये हुए गंगा के तट पर आये तो पण्डा जी के मुँह में पानी आ गया। तुरन्त ही उनके पास आकर बोले कि प्रातःकाल गंगा जी को काशीफल अर्पण करने से बड़ा पुण्य मिलता है। भोले लोगों ने उसे गंगा में फेंक दिया तो तत्काल पण्डा जी के सेवकों ने निकाल लिया। जिस तीर्थ पर जाओ यही देखने को मिलेगा। ये तीर्थ ठगाई के केन्द्र बन गये हैं।

जहाँ मनुष्य अपने लक्ष्य को ही भूल बैठे, उसे पथ भ्रष्ट कर दिया जाय, वह तीर्थ नहीं है। इस विषय में बहुत-सी विचारधाराएँ सामने आती हैं। प्रश्न है 'तीर्थं परं किम् ?' सबसे बड़ा तीर्थ क्या है ? तो उत्तर मिला 'स्वमनो विशुद्धम्' अपना पवित्र मन ही तीर्थ है। व्याकरण की दृष्टि से तॄ प्लवनतरणयोः धातु से 'पा तॄ तुदि वाचि रिचि सिचिभ्यस्थक्' इस उणादि सूत्र से थक् प्रत्यय लगाकर तीर्थ शब्द बनता है। 'ॠत इद्धातोः' इत्व तथा 'हलि च' से दीर्घ होता है। तीर्थ का अर्थ है तरना या पार होना। जिसके द्वारा अज्ञानान्धकार से तर जाय तथा समस्त कठिनाइयों या आपत्तियों से पार हो जाय वही तीर्थ है। सारी शंकाओं का निवारण एवं समस्याओं का समाधान जिसके द्वारा हो वही तीर्थ है। जिसके द्वारा मनुष्य अचिन्तनीय और असन्दिग्ध अवस्था को प्राप्त करे वही तीर्थ है। जिसके द्वारा वरेण्य को

वरण कर जीवन में भद्र ही भद्र देखें और अभद्र की सर्वथा समाप्ति हो जाय वही तीर्थ है। उन्नति का मार्ग सुझाने वाला तीर्थ है। संसार सागर को पार करने की कला जिससे प्राप्त हो वही तीर्थ है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तापों से छुटकारा दिलाने वाला तीर्थ है। मृत्यु से छुड़ा कर अमृतत्व दिलाने वाला तीर्थ है।

इसके निर्णय के लिये हम वेद-शास्त्रों की शरण लेते हैं जहाँ कि हमें निष्पक्ष तथ्य मिलते हैं। वेद में कई स्थलों पर तीर्थ शब्द का प्रयोग हुआ है जो अवलोकनीय है–

अरित्रं वां दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः।
धिया युयुज्र इन्दवः।। ऋ० १.४६.८

मन्त्र में ऐसा वाहन बनाने का आदेश है जो मजबूत हो, प्रकाश की व्यवस्था हो, सुख प्रदान करने वाला हो, विशाल सागर को पार करने में समर्थ हो। तीर्थ का अर्थ यहाँ तरना या पार होना है। नौका या जलपोत सिन्धु को पार कराने में समर्थ हैं। तीर्थ तट को भी कहते हैं क्योंकि उससे जल में उतरा जाता है। सभी नदियों के तट तीर्थ होते हैं। महाकवि भारवि ने तट पर बनी सीढ़ियों को तीर्थ बताया है। एक ऋचा में तीर्थ का वर्णन है–

प्रति प्र याहीन्द्र मीढुषो नृन्महः पार्थिवे सदने यतस्व।
अध यदेषां पृथुबुध्नास एतास्तीर्थे नार्यः पौंस्यानि तस्थुः।। ऋ० १.१६९.६

अपने घरों में उत्कृष्ट बल धारण करें ब्रह्मचर्य तेज वाले हों। संसारतीर्थ में इस विधि से पुरुषार्थ को अर्जित करें जैसे वैश्य धन का अर्जन करता है और उसे सुरक्षित भी रखता है। हम समुद्र के तट पर खड़े होकर देखें तो जल का असीम भण्डार दिखायी देगा जिसका कहीं भी पार नहीं। गहराई भी इतनी, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वैसा ही रहस्यमय यह संसार है। योग्यता एवं बल के अभाव में यह यात्रा सम्भव नहीं। जीवनयात्रा के लिये कुछ सामर्थ्य अपेक्षित है, अनुकूल तथा उपयुक्त साधन ही पार लगाते हैं। यह संसार एक तीर्थ है। इसमें यात्रा करने के लिये दिव्य साधनों की आवश्यकता है, अतः साधनों को जुटाना मुख्य कर्त्तव्य है–

यज्ञो हि ष्मेन्द्रं कश्चिदृन्धञ्जुहुराणश्चिन्मनसा परियन्।
तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको दीर्घो न सिध्रमा कृणोत्यध्वा।। ऋ० १.१७३.११

संसार तीर्थ में यात्रा करने के लिये सत्य का आचरण कुटिलतापूर्ण पाप कर्मों का त्याग आवश्यक है। यज्ञ ही इस यात्रा का साधन है। पवित्र कार्य करने वाला इस यात्रा में अनन्त सुख पाता है जैसे प्यासे को विशाल जलाशय मिल जाता है। तीर्थ पवित्र होता है और उसकी यात्रा भी पवित्र व्यक्ति ही कर सकता है। जीवन को यज्ञमय बना कर यात्रा

सुगम होगी। एक ऋचा में पवित्र हृदय को तीर्थ बताया है। उसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि स्थिर हो जाते हैं तो सृष्टि का दोहन करते हैं–

दुहन्ति सप्तैकामुप द्वा पञ्च सृजतः।
तीर्थे सिन्धोरधि स्वरे।। ऋ० ८.७२.७

एक अन्य ऋचा में शास्त्रज्ञान को तीर्थ बताया है–

उत न एना पवया पवस्वाधिश्रुते श्रवाय्यस्य तीर्थे।
षष्टिं सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय।। ऋ० ९.९७.५३

साधक अपने आराध्य का साक्षात्कार करता हुआ प्रार्थना कर रहा है–'हे ईश्वर ! सुनने-सुनाने योग्य अपने गुणगान रूपी तीर्थ में हमें अपनी पावनी शक्ति से पवित्र कर दो और हमें इतना सामर्थ्य प्रदान करो कि हम आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं को सूखे वृक्ष की भाँति जर्जर कर देवें। असंख्य शत्रुओं को प्रभावहीन करके संसार की यात्रा आनन्दपूर्वक करें'।

सबसे बड़ा तीर्थ परमात्मा है, उसके द्वारा बनाया हुआ संसार भी तीर्थ है। इसकी यात्रा पूरी करके ही परमेश्वर तक पहुँचा जा सकता है। संसार में जहाँ भी हम अपना रहने का स्थान बनावें उसे भी तीर्थ बनावें। एक ऋचा में घर को तीर्थ बनाने का संकेत मिलता है–

ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आधत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्।। ऋ० १०-४०-१३

पति-पत्नी के लिये आदेश है कि दोनों एक-दूसरे को सुख देने वाले बनें, घर में उत्तम सन्तान, धन-धान्य की समृद्धि हो, भोजन पानी आदि की व्यवस्था ठीक हो तथा मार्ग में स्थित ठूँठ की भाँति सुख में बाधक दुर्मति को नष्ट कर सुमति पैदा करें फिर वही घर तीर्थ बन जावेगा। जहाँ उत्तम मति वाले मिल कर बैठें वहाँ तीर्थ बन जाता है।

ऋचाओं का सार यही है कि संसार के बनावटी तीर्थों में आयु को गँवाना ठीक नहीं। सुमति, सद्ज्ञान, परमार्थी, विद्वान्, सदाचारी, दाता, उत्तम मार्गदर्शक, यज्ञ, ध्यान, योग तथा उन्नतिकारक साधन तीर्थ हैं। इस संसार में सदाचारी व्यक्ति ही तीर्थ यात्री है, परमात्मा सबसे बड़ा तीर्थ है और पवित्र कार्यों में जीवन को लगाना ही तीर्थयात्रा है। इस कार्य में किसी मध्यस्थ व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती। यात्रा स्वयं ही करनी होती है अतः इस तीर्थयात्रा के योग्य बनकर सदैव उस परमतीर्थ को प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

***

11. स्वर्गधाम

सुख के लिये प्रयत्नशील होना मनुष्य का स्वभाव है। मानवजाति से भिन्न प्राणी भी ऐसा ही कुछ चाहते हैं परन्तु उनमें पुरुषार्थ का अभाव है। पुरुषार्थी मनुष्य यदि पूर्ण निष्ठा से प्रयत्नशील हो तो संसार में कोई पदार्थ अलभ्य नहीं है। स्वर्ग के सम्बन्ध में मनुष्य कल्पना तो करता है परन्तु उसके स्वरूप से परिचित नहीं है। सुखविशेष को शास्त्रों में स्वर्ग कहा गया है। यदि स्वर्ग मिले तो मनुष्य अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार है। स्वर्ग का रेखाचित्र जैसा कि पुराणों में खींचा गया है वह उसकी रूपरेखा मात्र है। स्वर्ग के लिये कोई स्थान विशेष निर्धारित नहीं है। कुछ लोग भ्रान्तिवश पुराणोक्त स्वर्ग के लिये उद्यम करने लगते हैं, भव्य भवन, अत्यधिक धन, ऐश्वर्य के पूर्ण साधन जुटाने में अपनी पूर्ण योग्यता लगा देते हैं। जब सीमा से अधिक ऐश्वर्य बढ़ जाता है तो चोर-डाकू अपनी दृष्टि उस पर डालते हैं और एक दिन उस पर हमला भी बोल देते हैं। यही स्थिति सन्तान के विषय में भी हो जाती है। सन्तान तो बहुत हो गयी परन्तु इस योग्य नहीं बन पायी कि सुख दे सके। जिनके पास भूमि अधिक है उन्हें भूमि सम्बन्धी झगड़े तथा अभियोग आदि लगे रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि वह स्वर्ग, आशातीत सुख कैसे मिलता है ?

इसका उत्तर छान्दोग्य उपनिषद् में दिया गया है कि निश्चय जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। सुख भूमा ही है, भूमा की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये–

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव।
सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।। छान्दोग्य० ७-२३

भूमा एक अक्षय कोष है। महान् निरतिशय-बहु ये भूमा के पर्याय हैं। सुख के सभी साधन हमारे जीवन की पूर्ति करते हैं। इन साधनों के बिना जीवनयापन में कठिनाई होगी। अथर्व वेद में इस ओर संकेत किया गया है कि पोषणसामर्थ्य तथा जीवनसाधन बने रहें। पोषणकर्ता दूध और घृत से संयुक्त करे। अन्न की तथा पुरुषों की बहुतायत रहे–

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन।
अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम्।। अथर्व० ५-२८-३

वेद में मनुष्य के लिये पूर्ण सुख का प्राविधान है। सब कुछ एकत्रित करने के उपरान्त मनुष्य अपनी सुरक्षा के क्षेत्र में पीछे रह जाता है। ऐश्वर्य जितना बढ़ता जाता है, सुरक्षा भी उतनी ही बढ़नी चाहिये परन्तु अर्जन करते समय यह तो प्रायः भूल ही जाते हैं कि हमें सुरक्षा भी चाहिये। दूसरे प्राणी सुरक्षा को प्राथमिकता देते हैं। वे मिलकर रहते हैं तथा उनमें सामाजिक भावना अधिक पायी जाती है। मनुष्य अकेले ही रहना पसन्द करता है। यह बड़ी भारी भूल है कि हम सुख प्राप्ति के वास्तविक उपायों को नहीं अपनाते। मन्त्र में जहाँ

अन्न को माँगा है वहाँ पुरुषों और पशुओं की बहुतायत को भी कहा है। जिस घर में बहुत जने मिल कर रहते हैं उस घर की सदैव रक्षा ही रक्षा है। परिवार में फूट पड़ते ही वह सुरक्षित नहीं रहता। हमारी सुरक्षा में पशुओं का भी बहुत बड़ा सहयोग है। पारिवारिक स्वर्ग का स्वरूप कुछ इस प्रकार का बताया गया है–

यस्य पुत्रो वशीभूतो भार्या छन्दानुगामिनी।
विभवे यस्य सन्तोषस्तस्य स्वर्गमिहैव हि।। चाणक्य० २-३

जिसका पुत्र वश में हो, भार्या आज्ञा का पालन करती हो तथा ऐश्वर्य में जिसे सन्तोष हो; उसका स्वर्ग यहाँ ही है। इस दृष्टि से स्वर्ग को कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। एक विचारधारा यह भी है कि स्वर्ग-नरक मरने के बाद मिलता है, तो फिर इस जीवन में प्रयत्न करना ही व्यर्थ है। एक ऋचा में सुख की चर्चा की गयी है–

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

ऋ० ९.११३.११

जहाँ आनन्द ही आनन्द हो, मौज हो, प्रसन्नता हो, कामनाएँ पूर्ण होती हों और अमृतत्व भी हो, वहाँ रहने की इच्छा प्रकट की गयी है। अमृतत्व का भौतिक अर्थ निरापद जीवन तथा आध्यात्मिक अर्थ मोक्ष को प्राप्त करना है। यदि हमारा भौतिक जगत् सुसिद्ध है तो परलोक भी अच्छा होगा ऐसी अपेक्षा की जाती है। यह लोक ही परलोक का निर्माण करता है। वेदोक्त अमृतत्व हमें इस जीवन में भी चाहिये। मनुष्य स्वेच्छा से कभी भी मृत्यु को स्वीकार नहीं करता। अमृतत्व की भावना जीवन को आशावादी बनाती है। जहाँ-जहाँ सुरक्षा है वहाँ-वहाँ आनन्द है। मनुष्य की कामनाएँ कभी समाप्त नहीं होती हैं फिर भी उक्त मन्त्र में निर्दिष्ट बातें होने पर जीवन ठीक प्रकार से व्यवस्थित हो जाता है। भूमा का पर्याय निरतिशय भी है, जिसका अर्थ है कि उससे बढ़कर और कुछ न हो। यही सन्तोष का क्षण होता है। मनुष्य को यदि यह ज्ञान हो जाय कि जो कुछ उसके पास है, उससे बढ़कर कुछ है ही नहीं तो फिर वह कामना ही न करेगा। उपलब्धि के लिये यदि हम शास्त्रों का सहारा लेते हैं तो हम वास्तविक भूमा तक पहुँच सकते हैं। भोगों का आवरण अन्धकार को जन्म देता है। भौतिक संग्रह के चरमोत्कर्श पर पहुँचकर भी यदि वही प्रवृत्ति बढ़ती रही तो पतन निश्चित है। अविनाशी सुख इस संग्रह से कदापि न मिलेगा। सांख्य दर्शन इस बात को भली-भाँति समझाता है कि लौकिक उपायों से ऐसा असम्भव है। रोग की निवृत्ति औषधि से हो ही जाय पहले तो यह निश्चय नहीं और यदि हो भी गयी तो भविष्य में वह रोग फिर कभी न होगा ऐसा कोई नियामक नहीं है।

भूमा जिसका नाम है वह तो अलौकिक ऐश्वर्य है। भौतिक भूख से तृप्त होकर मनुष्य उस आध्यात्मिक की खोज में लग जाय तो सुख का मूल है। परमेश्वर के द्वारा सब कुछ मिलता है यदि इतनी बात हम समझ सकें तो पार्थिव उपासना में ही जीवन को नष्ट न करें। भूमा पर थोड़ा विचार करते हैं। शास्त्रों में उल्लेख है कि आध्यात्मिक ऐश्वर्य योगियों को मिलता है; इससे स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक चमक-दमक में न उलझ कर साधना का मार्ग अपनाना ही श्रेयस्कर होगा। इन्द्रियाँ सेवक हैं, उनका स्तर सेवक जैसा ही होगा। इन्हें एक बार पूर्ण तृप्त करके फिर इनकी मत सुनो नहीं तो इनका दुराग्रह दुर्गति में डाल देगा। मन से इन्द्रियों के विषय में सोचना बन्द कर दो। मन को बुद्धि के हवाले कर दो ताकि वह मनमानी न कर सके। इस स्थिति में केवल बुद्धि का शासन चलेगा। बुद्धि विवेक की जननी है। इससे ठीक काम लेने के लिये इसे आत्मा को अर्पित कर दो। आत्म चिन्तन के निरन्तर अभ्यास से आत्मज्ञान होता है। आत्म कल्याण इसी प्रकार सम्भव है। यदि विचारधारा दिव्य रूप धारण कर ले तो सफलता समझो। ऐसा पुरुष दिव्य हो जाता है, उसे भौतिक भूख पीड़ित नहीं करती; ऐसा लगता है कि हमने सब कुछ प्राप्त कर लिया है। हमारे ज्ञान तन्तु एकजुट होकर परमैश्वर्य को प्राप्त करने के लिये पूरी शक्ति लगा देते हैं। सन्तों में इस दिव्यता के दर्शन होते हैं। वे पहले वितरण करते हैं तब स्वयं ग्रहण करते हैं। फिर कभी वासना नहीं व्याकुल करती। दिव्य भावना की कसौटी है त्यागपूर्वक भोग। अन्दर से ऐसा रस प्राप्त होता है कि बाह्य जगत् फीका-फीका-सा लगता है। जो बच्चे माँ का दूध पीते हैं उन्हें दूसरा दूध रूचिकर नहीं लगता। हम भी यदि उस आनन्दरस का पान कर लें तो फिर दूसरा रस अच्छा नहीं लगेगा। वह लोक दूसरा ही होता है, अन्धकार से दूर–

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पावमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परिस्रव।।

ऋ० ९.११३.७

ऐसा वह धाम जिसमें निरन्तर ज्योति प्रकाशित होती है, जिसमें सुख ही सुख (स्वर्ग) है। वह अमृतमय तथा क्षयरहित (अविनाशी) लोक है। परमपावन परमात्मा से प्रार्थना है कि उस आनन्दमय लोक में हमें सर्वदा रखे। हमारी भूल यह होती है कि हम स्वर्ग-अपवर्ग माँगते हैं, परन्तु उस दाता को भूल जाते हैं। यदि हम उसकी खोज करें तो फिर संसार में भटकना नहीं पड़ेगा। परमात्मा स्वर्ग का धाम है हम उस स्वर्गधाम को ही प्राप्त करें।

❋❋❋

12. स्वावलम्बन

संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति देखने में आते हैं। पहले वे जो अपने कर्त्तव्यों का ठीक प्रकार से पालन करते हुए दूसरों को भरपूर सहयोग प्रदान करते हैं। दूसरे वे जो अपने ही कर्त्तव्यों को पूर्ण करते हैं; न तो दूसरों का कुछ सहयोग करते हैं और न किसी से सहयोग की इच्छा ही रखते हैं। तीसरे ऐसे लोग होते हैं जो केवल अपने ही कार्यों में उलझे रहते हैं फिर भी कर्त्तव्यों को पूर्णरूप से नहीं निभा पाते अपितु सबके सामने अपनी समस्याओं का रोना रोते रहते हैं, ऐसे व्यक्तित्व प्रायः अधूरे रह जाते हैं। मानव जीवन में समस्याएँ होती हैं परन्तु व्यक्ति में उनको हल करने की योग्यता हो तो कोई बाधा नहीं प्रस्तुत होती। कोई विशेष कमजोरी होने पर मनुष्य समस्याओं से घिरा रहता है और फिर अपने को दुःखी अनुभव करता है। हम अपनी आदत इस प्रकार की बना लें कि हमारे कार्य हमारे द्वारा ही सम्पन्न हों और यदि ऐसा हो सका तो हमें गौरव का अनुभव होता है। कठिनाई प्रस्तुत होने पर हम ऐसे महापुरुषों का स्मरण करें जिनका लक्ष्य केवल परोपकार रहा है। इस प्रकार के चिन्तन से हम समझ सकेंगे कि परोपकारी जन अपने व्यक्तिगत कार्यों को किस प्रकार पूरा करते होंगे। हम यदि परोपकारी नहीं बन सकते तो पराश्रित भी न बनें। हम में इतनी क्षमता तो अवश्य ही होनी चाहिये कि अपने कर्त्तव्यों को स्वयं पूर्ण कर सकें। यदि हम ऐसा कर पाते हैं तो स्वावलम्वी जीवन हो जाता है। सीधे शब्दों में स्वावलम्बन उसे कहते हैं जो अपने कार्यों को अपने आप करता है। स्व अवलम्बन अर्थात् सहारा स्वयं ही बनना, दूसरे के भरोसे न बैठे रहना।

वेदों में 'स्वधा' का प्रयोग हुआ है। इस शब्द के अन्न-जल आदि अनेक अर्थ हैं, परन्तु जिसके द्वारा स्वयं को धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त हो ऐसी शक्ति विशेष अथवा क्रिया विशेष को भी स्वधा कहते हैं। इस अवस्था में किसी का सहारा नहीं लेना पड़ता। स्वधा का ही व्यावहारिक स्वरूप स्वावलम्बन है। यह गुण जिसमें हो वह सामान्य जन न होकर विशिष्ट उपाधि का पात्र बन जाता है। यदि हम एकाग्र होकर अपने शरीर के सम्बन्ध में विचार करें तो हमें अपने में इतनी पूर्णता दिखायी देगी कि संसार के समस्त जीव हम से पीछे रह जायेंगे। आश्चर्य यह है कि सर्वाङ्गपूर्ण होते हुए भी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वावलम्वी कम है। छोटे-छोटे पक्षी अपने आवास तथा भोजन की स्वयं व्यवस्था करते हैं जबकि हम इतना सामर्थ्य नहीं रखते। हम स्वावलम्वी क्यों नहीं बन पाते, इसका एक अन्य कारण भी है। हमारी मानसिकता बनी हुई है कि हम कम से कम काम करेंगे तो बड़े लोगों में

हमारी गणना होगी। वड़ों की पहचान यह है कि स्वयं कुछ न करें और सदैव सेवक उनके चारों ओर घूमते रहें। हम यदि सारे कामों को हाथ से करेंगे तो वड़प्पन नष्ट हो जायेगा जिससे हमारे व्यक्तित्व में एक कमजोरी आ जायेगी।

न जाने कितने लोगों के हम ऋणी हैं, असंख्य हाथों के द्वारा हमारा पोषण हो रहा है। इस ऋण को हम कैसे उतारेंगे ? इसका यही उपाय है कि हमें हर समय काम करना चाहिये। हमें शरीर मिला है तो इस का उपयोग भी होना चाहिये। कोई भी चीज वेकार पड़ी रहे तो गल-सड़कर समाप्त हो जाती है और यदि उससे काम लिया जाय तो उसकी आयु वढ़ती है। स्वावलम्बन शरीर को सक्रिय रखने में सहयोग करता है। यदि काम से वचने की प्रवृत्ति हो गयी तो शरीर रोग का घर वन जायेगा। हरेक अंग की अपनी-अपनी स्वाभाविक क्रिया है जिसके सम्पन्न होने पर वह अंग पुष्ट रहेगा। ऐसी सभी प्रकार की क्रियाएँ हमारे दैनिक कृत्यों से पूर्ण होती हैं। हम वस्त्र धोते हैं तो हमारे हाथ क्रियाशील होते हैं। खेत में हल चलाने से सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है। जो महिलाएँ चक्की-मूसल-झाड़ू आदि से जुड़ी होती हैं, उनका स्वास्थ्य ठीक रहता है। शारीरिक श्रम करने वाला वलिष्ठ होता है। हम जितनी आवश्यकताओं की पूर्ति निजी श्रम से कर लेते हैं, उतने ही अंशों में हम स्वाधीन हैं अन्यथा हम पराधीन हैं। इस सम्वन्ध में मनुजी के उद्गार ध्यान देने योग्य हैं–

यद्यत्परवशं कर्म तत् तद् यत्नेन वर्जयेत्।
यद् यदात्मवशं तु स्यात् तत् तत् सेवेत यत्नतः।। मनुः ४-१५९
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।। मनुः ४-१६०

जो कार्य स्वयं किया जा सकता है उसे यत्नपूर्वक करना चाहिये और जो परवश है उसे छोड़ देवें। स्वाधीनता सुख का तथा पराधीनता दुःख का लक्षण है। जिस कार्य को हम स्वयं कर लेते हैं उसे दूसरों से करवाना भी पराधीनता है। वेद का आदेश है कि मनुष्य हो, अपने शरीर को पूर्ण सामर्थ्यवान् वनाओ, अपने यज्ञ को अपने आप ही करो, अपने आप ही सेवा - सत्कार - सत्सङ्गति करो। महत्त्व चाहते हो तो दूसरे के द्वारा नहीं अपने ही पुरुषार्थ से मिलता है–

स्वयं यजस्व दिवि देव देवान्। ऋ० १०.७.६
स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व
स्वयं जुषस्व महिमा तेऽन्येन न संनशे।। यजुः २३-१५

उक्त स्थल में मनुष्य को स्वावलम्बी बनने का उपदेश किया गया है। यह भी स्पष्ट है कि अपने कार्यों से ही महत्त्व प्राप्त होता है। स्वयं करने से ही यज्ञ का फल मिलता है और अतिथि यज्ञ का पुण्य भी स्वयं सेवा करने से ही मिलता है। एक अन्य मन्त्र में बताया गया है कि जो उत्तम विद्वान्, पूर्ण शक्तिशाली, सभी प्रकार का सामर्थ्य रखने वाले यज्ञ जैसे शुभ कर्मों को विशेष रूप से करते हैं, वे ही आनन्द को प्राप्त करते हैं, वे किसी की अपेक्षा नहीं करते और चतुर्दिग् उन्नति करते हैं–

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे।। यजुः १७-६८

विद्वानों के द्वारा किया गया यज्ञ अथवा उत्तम कर्म बहुतों को धारण करने वाला होता है। श्रुति का भाव यह है कि बिना किये कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। स्वावलम्बन उन्नति का द्वार खोल देता है। स्वावलम्बन के कारण मनुष्य स्वाधीन बनता है और साथ ही साथ जीवन में परमार्थ का समावेश भी होता है। स्वावलम्बन की भावना मनुष्य को पवित्र, दयालु, मितव्ययी, विवेकी, सदाचारी, परोपकारी, सन्तोषी, श्रद्धालु, नीरोग, सात्विक वृत्ति वाला, निष्कपट, निर्भीक तथा कर्मठ बनाती है। सफल जीवन की इच्छावालों को चाहिये कि आजीवन स्वावलम्बन के व्रत को धारण करें। आत्मकल्याण का यह सरल उपाय है।

13. दुर्व्यसनों के घेरे में

आचार्य चाणक्य की सूक्ति है 'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' विष से भी अमृत ग्रहण करना चाहिये। वर्तमान में मनुष्य और भी आगे बढ़ गया है और विष को ही अमृत मानकर ग्रहण कर रहा है। ऋषियों ने जिन्हें दोषों की श्रेणी में रखा था, मनुष्य उन्हें गुण सिद्ध करने के लिये अथक प्रयास कर रहा है और अपने विलासी जीवन को गुमराह करने के लिये नशे को जीवनयापन का मुख्य साधन समझ बैठा है। अब तो बहुमूल्य एवं पौष्टिक पदार्थों को नशे के रूप में प्रयोग करने की होड़ लगी है। परिभाषा बनाने से काम नहीं चलेगा। बुराई हमेशा बुराई ही रहेगी, उसका नाम बदलने से अच्छाई नहीं बनेगी। धर्मशास्त्रों में दोषों से सावधान किया गया है और आयुर्वेद शास्त्र में दूषित पदार्थों का निषेध किया गया है। जहाँ रोगों के उपचारार्थ औषधि का विधान है वहाँ पथ्यापथ्य का भी निर्देश किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र की बात न मानने से स्वास्थ्य और धर्मशास्त्र का उल्लंघन करने से चरित्र नष्ट होने का भय है। आयु, स्वास्थ्य तथा चरित्र को नष्ट करने वाले कारणों को दुर्व्यसन कहा जाता है। हमारी बुरी आदतें दुर्व्यसन हैं। व्यसन आपत्ति अथवा संकट को भी कहते हैं। ये दुर्व्यसन भी आपत्ति से कम नहीं हैं।

जब विचारधारा विपरीत दिशा में दौड़ती है तो बुराई भी अच्छाई प्रतीत होती है। समझाने वाला बड़ा-से-बड़ा विद्वान् भी सफल नहीं हो पाता इस सम्बन्ध में बहुत से कारण हैं। दुर्व्यसनी परिवार में जन्म तथा पालन-पोषण होना, कुसंगति में फँसना, अच्छे चरित्रवान् विद्वानों से शिक्षा-दीक्षा न होना, गन्दे उपन्यास-कहानियाँ आदि पढ़ना तथा पूर्वजन्म के दुष्कर्म आदि बहुत से कारण हो सकते हैं। आधुनिक चलचित्र भी कुछ ऐसा काम कर रहा है। कुछ विद्वानों ने पूर्वजन्म के भोग को प्रबल माना है–

यद्यपि तरणेः किरणैः सकलमपि विश्वमुज्ज्वलं विदधे।
तदपि न पश्यति घूकः पुराकृतं भुज्यते कर्म।।

'यद्यपि सूर्य की किरणों ने सारे विश्व को प्रकाशित कर दिया है, तो भी उल्लू नहीं देखता, यह पूर्व किये गये कर्म का भोग है।'

अज्ञान अज्ञान को, अन्धकार अन्धकार को तथा एक दोष बहुत से दोषों को जन्म देता है। सुस्वादु भोजन करने के उपरान्त पान-जरदा-तम्बाकू-बीड़ी-सिगरेट आदि से तृप्त होने वाला व्यक्ति उस कौवे से कम नहीं, जो अच्छे-अच्छे पदार्थ खाकर भी बिना विष्ठा के तृप्त नहीं होता–

न हि विना परिवादेन रमते दुर्जनो जनः।
काकः सर्वरसान् भुङ्क्ते विना अमेध्यं न तृप्यति।।

कुछ लोगों का नशा ही आधार बन जाता है। धूम्रपान नहीं करेंगे तो पेट दर्द होता है, पान नहीं मिला तो मुँह का स्वाद बिगड़ जाता है, चाय न मिले तो माथा भारी हो जाता है, जरदा नहीं खायेंगे तो पेट साफ नहीं होगा, मदिरा से पाचन ठीक रहता है और नजला, कफ आदि का विकास नहीं होता और बीयर इसलिये पीते हैं कि स्वास्थ्य में वृद्धि होती है। कई परिवारों में तो बचपन में ही मदिरा का अभ्यास करा देते हैं। भांग का नशा करना बुरा नहीं समझा जाता क्योंकि इसका सेवन शंकर जी करते थे। जुआ बुद्धिमानी का खेल है और धर्मराज युधिष्ठिर ने भी तो जुआ खेला था। इसी प्रकार भूल-भुलैया में फँस कर अधिकांश लोग दुर्व्यसनों के अभ्यासी हो जाते हैं। धूम्रपान के रूप में एक नशा चला है, उसे स्मैक कहते हैं। इसके सेवन से तो बुरी तरह पतन होता है। नशे की गोलियाँ भी कम घातक नहीं। नशीले पदार्थ मस्तिष्क पर आक्रमण करते हैं फिर तो दुर्व्यसनों के लिये ही बुद्धि समर्पित हो जाती है। यह विनाश का मार्ग है। विषयुक्त पदार्थ के लिये कभी भी शास्त्रों ने अथवा वेदों ने स्वीकृति नहीं दी है। अथर्व वेद में बताया गया है कि मनुष्य नया या पुराना जो भी अन्न खाता है अथवा कोई भी पेय पदार्थ लेता है, वह सब विषरहित हो–

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि।। अथर्व० ८.२.१९

ऋग्वेद में ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा की गयी है जो विशाल भवन में रहता है, गौ आदि पशुओं का तथा धनान्न का स्वामी है और जो विषरहित अन्न दूसरों को देता है–

वचो दीर्घ प्रसद्मनीशे वाजस्य गोमतः।
ईशे हि पित्वोऽविषस्य दावने।। ऋ० ८.२५.२०

विषैले पदार्थ को दान भी नहीं करना अर्थात् भोज्यपदार्थ के माध्यम से विष का उपयोग सर्वथा निषिद्ध है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में उल्लेख है कि कुछ पदार्थों में स्वाभाविक रूप से विष होता है, ऐसे पदार्थों का शोधन करके प्रयोग करना चाहिये–

यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम्।
विश्वेदेवा निरितस्तत् सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः।।

ऋ० ७.५०.३

सेमर आदि वृक्ष में, नदियों के जल में तथा औषधियों में जो विष उत्पन्न होता है उसको विद्वान् दूर करें जिससे कि कुटिल प्राणहरण रोग शरीर में प्रवेश न करे। आयुर्वेद में पदार्थों के शोधन के उपाय बताये गये हैं तदनुसार वैद्य पदार्थों को विषरहित करके प्रयोग करें। यदि विषयुक्त पदार्थों का सेवन किया जायेगा तो भयंकर रोग हो सकते हैं। नशीले तथा रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थ भूलकर भी प्रयोग न करें क्योंकि विष की अल्प मात्रा भी शरीर को रोगी बना देती है।

यह तो रही खान-पान सम्बन्धी दुर्व्यसनों की बात। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे दुर्व्यसन हैं जो मनुष्य को बाहरी आकर्षण के द्वारा जकड़ लेते हैं। ऐसे दुर्व्यसनों में सबसे घातक जुआ है। जुआ खेलते समय बड़ी प्रसन्नता होती है। विदुर जी लिखते हैं कि जुआ पहले से ही मनुष्यों में वैर करा देता है। इसलिये हास-परिहास में भी जुआ न खेलें–

> द्यूतमेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम्।
> तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्।।

जुआ प्रतिष्ठा को समाप्त कर देता है, सारा परिवार कष्ट में रहता है। जुआरी को समाज में पापी तथा कानून की दृष्टि से अपराधी समझा जाता है। कोई भी व्यक्ति जुआरी का विश्वास नहीं करता, शायद ही कोई क्षण सुख से बीतता हो। ऐसा मनुष्य उपेक्षित जीवन व्यतीत करता है, सभी उसको धिक्कारते हैं। वेद वाणी जुआरी को सचेत करती है कि जुआ मत खेल, भले ही खेती कर ले; उससे जो धन मिले उसे ही बहुत मानता हुआ आनन्द का अनुभव कर। घर में गौ आदि पशुओं का पालन कर, पत्नी-बच्चे हैं उनका भी ध्यान कर–

> अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
> तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।। ऋ० १०.३४.१३

मनुष्य जब दुर्व्यसन का दास बन जाता है तो बहुत से दोष एक के बाद एक आक्रमण करते हैं। केवल संयम के द्वारा दोषों पर विजय पायी जा सकती है। सभी दुर्व्यसन मिलकर आसुरी प्रवृत्ति बना देते हैं। आसुरी प्रवृत्तिवालों में दम्भ-दर्प-अभिमान-क्रोध-पारूष्य-अज्ञान आदि का समावेश होता है। ये सब बन्धन में डालने वाले हैं, यदि इनसे निकलना भी चाहे तो भी नहीं छोड़ सकता। विशेषता यह है कि बन्धन ही मोक्ष प्रतीत होता है। ऐसे व्यक्तियों का खान-पान, रहन-सहन, आचार-व्यवहार सब कुछ दूषित हो जाता है। दुष्टों से मित्रता होती है, कोई भी समझाने वाला नहीं रहता, केवल स्वार्थपूर्ति ही उद्देश्य बन जाता है। 'स्वार्थी

दोषं न पश्यति' स्वार्थी को दोष नहीं दीखता। छ दोष ऐसे गिनाए हैं जिनको छोड़ देना चाहिये–

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोधमालस्यं दीर्घसूत्रता।।

आवश्यकता से अधिक सोना, हर समय ऊँघते रहना, शरीर के अंग शिथिल होने के कारण कार्य ठीक से न कर पाना, अधिक डरना, क्रोध करना, आलस्य करना, काम से मन चुराना, दीर्घसूत्री होना, काम टालमटोल करके करना अथवा असम्भव कल्पनाएँ करते रहना ये सब भी दुर्व्यसन ही हैं क्योंकि ये मनुष्य की उन्नति में बाधा डालते हैं। सन्मार्ग को छोड़कर कुमार्ग पर जाना भी वैसा ही है। ऐसे व्यक्ति के लिये वेद में बताया गया है कि हे मनुष्य तू उस राह पर मत चल, यह मार्ग भयंकर है, इस रास्ते पर तू पहले कभी नहीं चला इसलिये तुझे बताता हूँ। हे पुरुष ! आगे अन्धकार में पग मत रख, यहाँ दूर तक भय है। इससे दूसरे मार्ग पर चल जहाँ अभय है। यह अथर्व वेद का उपदेश है सबके द्वारा अनुकरणीय है–

मैं तं पन्थामनुगा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तमेतत् पुरुष मा प्रपत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्।। अथर्व० ८.१.१०

❋❋❋

14. यम

पुराणों के अनुसार यम मृत्यु का देवता है। जिस समय जीव की मृत्यु होती है तो यम के दूत उसे लेने आते हैं, फिर यमराज के दरवार में पहुँचकर उसकी सुनवायी होती है। परन्तु यह एक निराधार कल्पना है क्योंकि पुराणों से पूर्व वेद में यम का वर्णन किया गया है। वेद के अनुसार यम परमात्मा[1] का नाम है–

इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋ० १.१६४.४६

इस मन्त्र में यम परमात्मा का विशेषण है। सायणाचार्य ने 'यमं' का अर्थ 'नियन्तारं' किया है। तदनुसार यम का अर्थ है नियन्त्रण करने वाला। आचार्य यास्क 'यम' की निरुक्ति करते हैं 'यमो यच्छतीति सतः' नियन्त्रण करता है इसलिये यम है। दुर्गाचार्य ने निरुक्त की टीका में यच्छति का अर्थ इस प्रकार किया है–'उपरमयति जीवितात् सर्वं भूतग्राममिति यमः' जो समस्त प्राणियों को जीवन से पृथक् कर दे। यह व्याख्या भ्रामक तथा अप्रासंगिक है।

सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने यम का अर्थ स्पष्ट किया है 'यमु उपरमे' इस धातु से यम शव्द सिद्ध होता है। यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः, जो सव प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता और अन्यायों से पृथक् रहता है इसलिये परमात्मा का नाम यम है।'

इससे पता चलता है कि ईश्वर की नियन्त्रणशक्ति का नाम यम है। लोक में न्यायाधीश, आचार्य तथा नियामक को यम कहते हैं। पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार योग के आठ अङ्गों में प्रथम यम है तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। वैदिक मान्यतानुसार यम ही सव कुछ है–

यमो ह जातो यमो जनित्वं जारः कनीनां पतिर्जनीनाम्। ऋ० १.६६.४

कन्या के पति को भी यम कहा गया है। इसकी पुष्टि ऋग्वेद के यमयमी सूक्त (१०-१०) से हो जाती है। ऋ० १०.१४.१ में राजा को यम कहा गया है। ऋ० १०.१३५.१ के अनुसार पिता भी यम है।

वास्तव में यम एक शक्ति है जो आध्यात्मिक तथा भौतिक, दो प्रकार से जगत् का नियन्त्रण करती है। नियन्त्रण सर्वत्र सर्वथा अपेक्षित है। सृष्टि का आरम्भ इसी शक्ति के द्वारा हुआ है। प्रकृति सत्-रज-तम तीन गुणों वाली है। इनका क्रियात्मक रूप ही सृष्टि

है और निष्क्रियता प्रलय है। तीनों गुण विषम अवस्था को प्राप्त कर सृजन में प्रवृत्त होते हैं तथा साम्यावस्था में प्रलय हो जाती है। इन तीनों गुणों में नियामक शक्ति अनुमान से सिद्ध होती है क्योंकि ऐसा न हो तो नियमपूर्वक कार्य न हो। ईश्वर की इस शक्ति से जगत् शासित है। दिव्यशक्ति का नाम यम है जो परमेश्वर का वाचक है। जीवन में अपनाने के लिये पाँच यमों का उल्लेख किया गया है। इनसे जीवन पवित्र होता है और मृत्यु का भय नहीं रहता। यमरूपी परमात्मा के शासन में रहने के लिये उसके नियमों का पालन अनिवार्य है। यज्ञ की हवि उस यम को ही दी जाती है। भली-भाँति सम्पादित यज्ञ ही यम को प्राप्त होता है। धृतयुक्त हवि से उसकी उपासना करनी चाहिये, ऐसा करने से दीर्घायु तथा आनन्दमय जीवन की उपलब्धि होगी। यम ही सम्पूर्ण विश्व का राजा है उसे मधुर-मधुर हवि प्रदान करो साथ ही अपने पूर्वजों, मार्गदर्शन करने वाले ऋषियों का भी सम्मान करो, क्योंकि उन्होंने ही सन्मार्ग दिखाया है–

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः।।
यमाय धृतवद्धविर्जु होत प्रच तिष्टत।
स नो देवेष्वा यमद् दीर्घमायुः प्रजीवसे।।
यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।।

ऋ० मण्डल १० सू० १४ मंत्र १३, १४, १५

वैदिक संस्कृति के प्रवर्तक आदि ऋषियों को यदि यम कहा जाय तो अनुचित न होगा क्योंकि उन्होंने धर्म का नियमन किया है, मनुष्य को श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का मार्ग दिखाया है। मनुष्य इस संसार में कैसे रहे, इसके लिये मनु आदि ऋषियों ने अपना पूरा जीवन लगा दिया, अतः वे भी हमारे पूजनीय हैं।

एक मन्त्र में विलक्षणता प्रतीत होती है। उसमें यम के दो कुत्तों का वर्णन है। वे दोनों कुत्ते उस यम की रक्षा करते हैं। कुत्ते चार आँखों वाले हैं, पथ के रक्षक हैं और बड़े प्रसिद्ध हैं–

यौ ते श्वानौ यम रक्षिता रौ।
चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।। ऋ० १०.१४.११

परमात्मा को जानने के लिये ज्ञान तथा कर्म दो साधन हैं और इन साधनों की पूर्ति योग के आठ अंगों के द्वारा सम्भव है–'यम नियमासन प्राणयाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि' योगदर्शन साधनपाद सूत्र २९

इनके अनुष्ठान से आत्म-कल्याण होता है, ज्ञान तथा कर्म सम्यक् सम्पादित होते हैं। आत्मदर्शन का यही उपाय है। दृष्टि ठीक रहने पर ही देखने का कार्य सम्भव है। योग के आठ अंगों से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है और मनुष्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व का आलोचन करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। यम को जानने का यही उपाय है। यह ऐसी स्थिति है जिसके वाद जानने के लिये कुछ शेष नहीं रह जाता। इससे मोक्ष का मार्ग खुल जाता है, जीवन की सभी समस्याओं का समाधान हो जाता है, सृष्टि के सारे रहस्य खुल जाते हैं। नियन्ता के रूप में परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य आत्मनियन्ता बन जाता है, उसके ज्ञान का फल संशय का विनाश है–

भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।। मुण्डकोपनिषद् २.२.८

आचार्य यम ने नचिकेता को यह विद्या ही बतायी थी जिसको प्राप्त कर वह मृत्यु से रहित विशुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया। जो भी इस अध्यात्म-विद्या को जान लेता है वह मृत्यु तवा समस्त विकारों से रहित होकर परमतत्व से सङ्गत हो जाता है–

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथलब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोड भूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं या विदध्यात्ममेव।।
कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३ मन्त्र १८

अतः प्रतीत होता है कि वास्तविक यम को जानने अथवा प्राप्त करने के लिये योग विद्या का अनुष्ठान अनिवार्य है, इसके लिये हृदय का निष्कलङ्क एवं निर्विकार होना आवश्यक है। जीवन का मुख्य उद्देश्य भी यही है जो मोक्ष कहलाता है। बुद्धिजीवी का कर्त्तव्य है कि योग विद्या के अभ्यास से अपने को इतना पवित्र वना ले कि यम को प्राप्त कर सके। आध्यात्मिक ज्ञान ही यम प्राप्ति का साधन है।

***

15. वायु

अन्तरिक्षस्थानीय वायु देवता प्रेरणा का स्रोत है, प्राणियों का प्राण है, आदि ऋषियों में से यजुर्वेद के ज्ञान का वितरक है तथा गति का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। वा धातु से वायु शब्द बनता है; इस आधार पर वा धातु के जितने अर्थ हैं उतने ही अर्थ वायु के भी हैं। संस्कृत के नामों में यही विशेषता है कि नाम के अनुसार कर्म होता है। अध्यवसाय युक्त, गतिमान्, सतत-चेष्टायुक्त, प्रहार करने वाला, सूचना देने वाला, संकेत करने वाला इत्यादि अर्थ वायु शब्द से प्राप्त होते हैं। इसे सदागति, गन्धवह (गन्ध को वहन करने वाला) तथा मातरिश्वा (अन्तरिक्ष में व्याप्त) भी कहते हैं। वात तथा मरूत् भी इसके पर्यायवाची हैं। प्रेरणा करने के कारण इसे समीर कहा गया है। शब्द को प्रेरित कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाता है। इसके कारण हमारा श्वास-प्रश्वास चलता है इसलिये इसे देवता कहते हैं। वायु सोम की रक्षा करता है और सोमपान भी करता है। सोम को वायु के निमित्त सजाया गया है और सम्बोधित किया जाता है कि वह भक्त की पुकार को सुने–

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधि हवम्।। ऋ० १.२.१

मन्त्र में एक विद्वान् को सम्बोधित किया जा रहा है कि संसार के सौम्य पदार्थ विद्वान् के लिये हैं। जो व्यक्ति ज्ञान तथा क्रिया से सम्पन्न है वही सोम का अधिकारी है। उसका कर्त्तव्य है कि वह जरूरतमन्द की पुकार को सुने। आचार्य दुर्ग लिखते हैं कि वर्षाकर्म में वायु का अधिकार प्रथम है। वायु मेघों को प्रेरित करता है तो वर्षा होती है। वायु की एक शक्ति पत्तों को सुखाती है, दूसरी शक्ति पत्तों को वृक्ष से पृथक् करती है, तीसरी शक्ति वर्षाक्रम में प्रवृत्त होती है। वायु के सोमपान का भाव है कि वह रसों को खींच लेता है, नमी-सीलन आदि को दूर करता है। पान करने वालों में वायु प्रथम है। हम जो यज्ञानुष्ठानादि करते हैं उसकी सुगन्ध को तत्काल ग्रहण करता है। इसलिये वायु को पूर्वपा (प्रथम पान करने वाला) बताया है।

अग्रं पिब मधूनां सुतं वायो दिविष्टिषु।
त्वं हि पूर्वपा असि।। ऋ० ४.४६.१

मन्त्र में मधु का भाव है कि हम यज्ञ में उत्तमोत्तम पदार्थों को हविरूप में अर्पित करें। हमारी कामनाओं की पूर्ति अधिकांश वायु पर निर्भर है। वायु को शुद्ध बनाए रखना हमारा परम कर्त्तव्य है। वायु के द्वारा हवि का प्रभाव द्युलोकपर्यन्त पहुँचता है। सुगन्धित, पौष्टिक,

मधुर एवं रोगनाशक पदार्थों का चयन कर हवि अर्पित करने से वायु प्रसन्न होकर हमारी कामनाओं की पूर्ति करता है। हम जो भोजन खाते हैं उसे भी वायु प्रभावित करता है। दुर्गन्धपूर्ण वायु से भोजन दूषित हो जाता है। हमारे स्वास्थ्य एवं जीवन का वायु से सीधा सम्बन्ध है। विषैली गैस युक्त वायु होने पर हम श्वास भी आसानी से नहीं ले पायेंगे। यदि हम स्वस्थ रहना चाहते हैं तो वायु की शुद्धि करते रहें। वायु शुद्ध करने का सबसे अच्छा उपाय यज्ञ होता है। वृक्ष-पुष्प आदि से भी वायु की शुद्धि होती है। शुद्ध वायु के सेवन से हम शक्तिशाली होंगे, बुद्धि निर्मल बनेगी और हमारे विचार भी शुद्ध रहेंगे। रक्त को शुद्ध करने का साधन वायु है। गन्दगी युक्त वायु के सेवन से रोग तथा दुर्बलता बढ़ने की आशंका रहती है। कभी भी रोग का आक्रमण हो सकता है। हमारे ऋषियों ने ऐसा विचित्र सूत्र दिया है कि इससे सारे विश्व का वायुमण्डल शुद्ध किया जा सकता है। सभी लोग यदि यज्ञ को अपना लेंगे तो सुख का अनुभव करेंगे। द्युलोक तथा पृथिवीलोक ने वायु को ऐश्वर्य के लिये उत्पन्न किया है, स्तुतिरूप में वाणी ऐश्वर्य के लिये वायु देवता को धारण करती है। स्वच्छ वायु का सेवन करो और दारिद्रय को दूर करो–

राये नु यं जज्ञत् रोदसीमे राये धिषणा धाति देवम्।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके।। ऋ० ७.९०.३

विशुद्धता ही वायु का ऐश्वर्य है। अशुद्धि ही दरिद्रता तथा दीनता है। अनुकूल वायु का सेवन करने से वायु के गुण आते हैं। कार्य क्षमता भी बढ़ जाती है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में कहा है 'वायव स्थ' तुम वायु हो। मनुष्य निरन्तर कार्यरत रहे तभी वह वायु के गुणों वाला कहा जा सकता है। एक ऋचा में वायु को पुकारा है और मनुष्य को कर्त्तव्यबोध भी कराया गया है–

आ वायो भूष शुचिपा उपनः सहस्रं ते नियुतो विश्ववारः।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम्।। ऋ० ७.९२.१

'हे वायो सुशोभित हो, तुम्हारे हजारों प्रकार के काम हैं। तुम सबके वरणीय हो। मैं तुम्हारे लिये आनन्दप्रद अन्न प्रस्तुत करता हूँ, यह पहले पीने योग्य पेय है इसे ग्रहण करो, पियो'। यहाँ वायु से अभिप्राय विद्वान् से है। विद्वान् सब को सुशोभित करता है स्वयं भी शोभा पाता है। वह शुचिपा = पवित्र पेय को पीने वाला होता है। उसके असंख्य कर्त्तव्य होते हैं इसलिये वह सबके द्वारा वरण योग्य होता है। अन्य लोगों का कर्त्तव्य है कि ऐसे कर्मठ-विद्वान् का पवित्र भोजनादि से सम्मान करें। विद्वान् सबको सदुपदेश करता है और वायु की भाँति वह सबका उपकार करता है। वायु के लिये सदैव हवि प्रदान करो–

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।

घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम।। ऋ० १०.१६८.४

'वायु देवों का आत्मा है, भुवन को ग्रहण करने वाला है और नियमबद्ध अपने कार्य को करता है। केवल इसकी ध्वनि सुनते हैं रूप नहीं देखा, ऐसे वायु के लिये हवि प्रदान करें, उपासना करें।'

वायु हमारे हृदय को सुख-शान्ति प्रदान करता है, यह हमारे लिये औषधि है। प्राणायाम करना ही वायु की उपासना या भक्ति है, इस क्रिया से मृत्यु को जीत सकते हैं। प्राणायाम करने वालों के लिये वायु अमृत है। वायु के उचित सेवन से आयु बढ़ती है, रोग भी आक्रमण नहीं करते। शरीर के लिये पाँचों तत्त्वों के गुणों का समान रूप से महत्त्व है। प्रकृति से इन गुणों को प्राप्त करना सीखें। यह विलक्षण प्रक्रिया है। इसमें प्राणायाम का सर्वाधिक महत्त्व है। वायु को सूक्ष्म रूप में जानकर ही आत्म-कल्याण सम्भव है।

❋❋❋

16. मानव जीवन की उपयोगिता

एक सूक्ति है 'भद्रं पुरुषजीवनम्' पुरुष का जीवन भद्र है, अच्छा है। उपयोगिता की दृष्टि से भी इस का सर्वोच्च स्थान है। इस शरीर को परमात्मा ने सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है। अङ्गविन्यास ऐसा कि जिसकी तुलना नहीं। इसे नाम भी असंख्य दिये गये हैं, परन्तु 'पुरुष' नाम अपने में परिपूर्ण है। संसार की प्रगति में सबसे बड़ा योगदान इसी का है। इस शरीरधारी से वहुत-सी अपेक्षाएँ की जाती हैं। जितनी विशेषताएँ हैं, उतनी कृतियाँ भी अद्भुत हों तो इसकी गरिमा स्थिर रह सकती है। मनुष्य जन्म को दुर्लभ वताया गया है, एक त्रुटि होने पर भी जीव इसके अधिकार से वञ्चित रह सकता है। सबसे बड़ी सावधानी यह है कि कोई भी कार्य ऐसा न हो जाय जो मानवता के प्रतिकूल हो। इसका निर्णय वेद-शास्त्रों से किया जा सकता है। वैसे तो सभी विद्वानों ने इस सम्वन्ध में अपने विचार दिये हैं, उनको संगृहीत करके निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं। फिर भी इतना अवश्य है कि साधारण मनुष्य अपने परीक्षण के आधार पर कोई निर्णय लेते हैं जवकि ऋषि एक सार्वभौमिक तथ्य प्रस्तुत करते हैं। मनुष्य की दृष्टि में किसी भी पदार्थ का अच्छा या बुरा होना स्वार्थ पूर्ति पर आधारित होता है और ऋषि उसका वास्तविक मूल्याकंन करते हैं। एक व्यक्ति को स्त्री के कारण हानि हुई तो उसने घोषणा कर दी 'विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च' स्त्रियों का विश्वास नहीं करना चाहिये। यदि इसे सर्वमान्य सिद्धान्त स्वीकार कर लें तो फिर अपाला, गार्गी, मैत्रेयी, सीता, सावित्री तथा लक्ष्मीवाई आदि का क्या होगा ? दूसरी ओर मनु जी का सिद्धान्त है 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहाँ देवता विचरण करते हैं। एक विचारक ने मनुष्य तथा पशु में अन्तर स्पष्ट किया है कि आहार, निद्रा, भय तथा कामवासना ये लक्षण दोनों मे पाये जाते हैं, धर्म ही मनुष्य का विशेष लक्षण है तया धर्म न हो तो मनुष्य और पशु दोनों समान हैं–

आहार निद्रा भय मैथुनानि सामान्यमेतत् पशुमिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

केवल धर्म का आचरण ही मनुष्य को पशुओं से अलग करता है। धर्म के अन्तर्गत दो वातें आती हैं एक तो आत्मकल्याण और दूसरा है परोपकार। पवित्र आचरण वाले व्यक्ति सब प्रकार से सफलता प्रापत करते हैं। पवित्रता ज्ञान पर निर्भर है। गीता में लिखा है 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह वियते।' संसार में ज्ञान के सदृश कुछ भी पवित्र नहीं है। चरित्र या आचरण की पवित्रता जीवन की उन्नति का प्रतीक है। ऋषियों का सन्देश तथा वेदशास्त्रों

का उपदेश जीवन के लिये पवित्र मार्ग को प्रशस्त करता है। मनुष्य जीवन में कहीं भी भटकने का अवसर नहीं क्योंकि मनु का अर्थ है मननशील और मानव मनु की सन्तान है। यास्काचार्य ने निरूक्ति की है 'मनुर्मननात्, मत्वा कर्माणि सीव्यति' विवेक से कार्य करता है इसलिये मनु कहा जाता है। यह एक निर्णीत तथ्य है कि विवेक से कार्य करने वाला कभी भ्रान्ति के जाल में नहीं फँसेगा। पुरुष वह है जो पुरुषार्थी है; धर्म - अर्थ - काम - मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं, इनकी सिद्धि के लिये जो निरन्तर प्रयत्नशील है वह पुरुष है। सतत कार्यरत रहना, जीवन की सफलता का चिन्ह है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र में उपदेश है 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वम्' सविता देवता (परमात्मा) तुम को श्रेष्ठतम कर्म के लिये नियुक्त करता है, सदैव उन्नति करते रहो। शतपथ ब्राह्मण का वचन है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। यजुर्वेद की सूक्ति है 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' यज्ञ से आयु को समृद्ध बनाओ। आयु को उत्तम कर्मों में बिताओ। वेद के एक मन्त्र में मनुष्य के कर्त्तव्यों का निर्देश किया गया है कि मनुष्य धन और दिव्यगुण युक्त सन्तान उत्पन्न कर, बहुत से जनों को विद्वानों का हितकारी बना। संसार के कार्यों को करते हुए प्रकाश का अनुसरण कर। बुद्धिपूर्वक निर्मित प्रकाशयुक्त मार्गों की रक्षा कर। निरन्तर श्रेष्ठ कर्म करने वालों के कार्यों को गति प्रदान कर। शरीर धारण करने के पश्चात् यदि मानवीय गुणों को धारण न कर पाया तो मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। प्रकाश का भाव विवेचना है। जो कुछ करो विचार कर करो, अपने ही कार्यों में मत उलझे रहो अपितु जो लोग अच्छे कार्य कर रहे हैं उन्हें सहयोग प्रदान करो। अपने आपको ही अच्छा बना लेना पर्याप्त नहीं, अपने जैसा बहुतों को बनाओ–

तन्तुं तन्वन् रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियाकृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।। ऋ० १०.५३.६

गीता में शरीर को क्षेत्र तथा इसको जानने वाले को क्षेत्रज्ञ बताया है–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। गीता १३.६

गीता का अभिप्राय है कि सदैव कर्म करते रहो। कर्म से ही जीवन की सफलता है। वैदिक सूक्तियाँ विविध प्रकार का उपदेश करती हैं 'भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि' भलाई से जीते हुए वृद्धावस्था को प्राप्त करें। ज्योग् जीवन्तः प्रजया सचेमहि सोमस्योती सचेमहि' जीते हुए निरन्तर उत्तम प्रजा से संयुक्त रहें तथा ऐश्वर्य की रक्षा होती रहे। आयु को उत्तम सन्तान तथा ऐश्वर्य से जोड़ दिया है। आयु सीमा सौ वर्ष है–

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन।। ऋ० १०.१८.४

यह जीवन की परिधि है। कोई भी ऐसा कार्य न करना जो मृत्यु की ओर ले जाय। यह भी जीवन का एक लक्ष्य है। जीवन् को सुखी करने के साथ-साथ मृत्युञ्जय बनने का प्रयत्न भी करते रहना चाहिये। हमारे लक्ष्य की सिद्धि में मृत्यु भी एक बाधा है। यह बाधा तव है यदि वीच में ही आ जाय। जीवन की साधना के लिये दीर्घ आयु चाहिये। एक मन्त्र में यज्ञ करने वालों को सम्बोधित किया गया है–

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत द्रा घीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः।। ऋ० १०.१८.२

मृत्यु के कारणों को हटाते हुए दीर्घ आयु को धारण करो। प्रजा तथा धन से खूब वढ़ते हुए शुद्ध-पावन बने रहो। पवित्र जीवन टिकाऊ होता है। उक्त मन्त्र में ऐसी ही झलक मिलती है। यज्ञीय जीवन, दीर्घ आयु, ऐश्वर्य की समृद्धि और मृत्यु का पराभव ये ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। जीवन में मानव शरीर के अनुकूल कार्य करने चाहियें। अन्य जीवों को तिर्यग् कहा जाता है, वे तिरछे चलें तो कोई बात नहीं परन्तु मनुष्य को ऐसी छूट नहीं है–

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुतकोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं हषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र।। ऋ० ७.१०४.२२

उल्लू की, भेड़िये की, कुत्ते की, गरूड़ की, चक्रवाक की तया गिद्ध की चाल को छोड़ दो। मानव जाति के प्रतिकूल स्वभावों को त्याग दो। तिरछे चलने वालों का अनुकरण मत करो। वुरी आदतों को इस प्रकार त्योग दो जैसे किसी पदार्थ को पत्यर से मसल देते हैं। कोई भी दुष्प्रवृत्ति इस पवित्र जीवन में स्थान न वना ले। वेद ने यहाँ तक सावधान किया है कि दुष्ट, दुराचारी व विपरीत आचरण वाले स्त्री-पुरुषों का संग भी त्याग दो, उन को ग्रीवा रहित कर दो ताकि वे उगते हुए सूर्य को न देख पायें। दुष्ट जितना बढ़ेगा दुनिया से अच्छाई समाप्त होती जायेगी। अतः दुष्ट का पक्षपात नहीं करना चाहिये–

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्।। ऋ० ७.१०४.२४

एक नीतिकार ने मानवोचित गुणों की प्रशंसा की है। जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त सत्य भाषणादि नियम पालन युक्त और अभिमान-अपवित्रता से रहित, संसार के दुःखों को दूर करने से सुशोभित, वेदविहित कर्मों से परोपकार करने में लगे रहते हैं वे जन धन्य हैं–

विद्याविलासमनसो धृतशील शिक्षाः सत्यव्रता रहित मानमलापहाराः।
संसार दुःखदलनेन सुभूषिता ये धन्या नरा विहित कर्म परोपकाराः।।

संक्षेप में यही तथ्य सामने आता है कि केवल खान-पान, सुखभोग, रागरंग आदि में जो लोग अपने को धन्य मानते हैं उनका जीवन किसी उपयोग में नहीं आता, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये ही आयु को समाप्त कर देते हैं, यह एक प्रकार से जन्म को गँवाना ही है। यदि जीवन को उपयोगी वनाना है तो इन वातों से तनिक हटकर उन कार्यक्रमों या योजनाओं की ओर ध्यान देना होगा जिससे आत्मा का कल्याण होता हो ।आत्मिक उन्नति, परोपकार, धर्म का पालन, सद्ज्ञान की प्राप्ति, श्रेष्ठ कर्मों का संग्रह, भद्र का वरण, निज स्वार्थ की निवृत्ति, न्याय के प्रति पक्षपात, संज्जनों से मित्रता, दुष्टों का दमन, विवेकपूर्वक कार्य को सम्पन्न करना, निष्ठा से कर्त्तव्यों का पालन, ईश्वर में विश्वास, अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा तथा सरलता आदि गुणों का धारण करना तया जो कुछ भी मानव के लिये अस्वाभाविक है उससे अपने को वचाना ही मानव जीवन के लिये विहित है।

⁂

17. सरस्वती

एक कल्पना है कि सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवी है तथा उसकी कृपा से विद्या फलती है, अतः विद्या प्राप्ति हेतु उसकी उपासना अभीष्ट है। काव्यमीमांसा में पण्डित राजशेखर ने बड़ा रोचक प्रसंग प्रस्तुत किया है। काव्य पुरुष की उत्पत्ति सरस्वती से हुई और वह वाल्मीकि पर प्रसन्न हुई तो उन्हें आदि कवि बनने का श्रेय मिला। वास्तव में वाल्मीकि आदि कवि तथा वाल्मीकि रामायण आदि काव्य है। सरस्वती का इतना प्रभाव माना जाता है कि जो कोई भी वाल्मीकि महाकवि द्वारा रचित 'मा निषाद प्रतिष्ठामगमः शाश्वतीः समाः' श्लोक का श्रद्धा से पाठ करे तो कवित्वशक्ति उपलब्ध हो सकती है।

वेद में सरस्वती का वर्णन है परन्तु वह कोई देवी विशेष न होकर एक शक्ति मात्र है। निघण्टु में सरस्वती शब्द वाणी तथा नदी का पर्यायवाची है। एक ऋचा में सरस्वती नदी का भी उल्लेख प्राप्त है। संस्कृत-साहित्य में सरस्वती की कुछ विचित्र छवि अंकित की गयी है। उसका वर्ण श्वेत है, श्वेत हार धारण किये हुए है, श्वेत वस्त्रों से आवृत है, वीणा हाथ में लिये हुए श्वेत पद्मासन पर विराजमान, सभी देवताओं से वन्दित है और मूर्खता को समूल नष्ट करने वाली है। वेद में सभी देवता भावात्मक हैं, अतः सरस्वती के अङ्गोपाङ्गों का इस प्रकार का ब्यौरा नहीं दिया गया है। मन्त्र में प्रयुक्त शब्द का अर्थ प्रसंगानुकूल लिया जाता है। जहाँ ज्ञान-कर्म-बुद्धि-स्तुति का प्रकरण है वहाँ सरस्वती का अर्थ वाणी ही लिया जायेगा। 'शं सरस्वती सह धीभिरस्तु' में प्रार्थना की गयी है कि सरस्वती कर्म अथवा स्तुतियों सहित शान्ति प्रदान करने वाली हो, हमारी वाणी शान्ति के लिये हो। वाणी से शान्ति प्राप्त करने का अर्थ है कि वाणी रसीली, मधुर एवं आकर्षण युक्त हो, उसमें स्तुति का पुट हो बुद्धि से विचार कर बोला जाय तथा वाणी के सदृश कर्मानुष्ठान भी हो। ऋग्वेद में सरस्वती को शुभ्र बताया गया है, शुभ्र का अर्थ निष्कलङ्क है। हमारी वाणी शुद्धि की कामना करने वाली सामर्थ्यपूर्ण तथा बुद्धि के द्वारा प्राप्त धनादि ऐश्वर्य वाले यज्ञ को, अनुष्ठान को वहन करे। प्रिय एवं सत्य वचनों की प्रेरणा करती हुई, उत्तम गति का ज्ञापन करती हुई सरस्वती यज्ञानुष्ठान को धारण करती है। वाणी का सौष्ठव ही उसका यज्ञ है। वाणी का सम्बन्ध बुद्धि से रहे तो सदैव आनन्द ही उपलब्ध होंगा। वाणी के सदुपयोग से बुद्धि का वैभव प्रकट होता है। इस प्रकार की वाणी की सर्वदा प्रशंसा की जाती है। प्रकारान्तर से वाणी बौद्धिक स्तर का परिचय देती है। व्यक्तित्व का प्रथम मापदण्ड वाणी ही है–

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसु।। ऋ० १.३.१०
चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती।। ऋ० १.३.११

वाणी के द्वारा बहुत से कार्य सिद्ध होते हैं। यह एक प्रकार की साधना है। कुछ व्यक्तित्व ऐसे होते हैं जिनकी वाणी को सुनने के लिये लोग लालायित रहते हैं। वाणी में अमृत होता है। मन्त्र का प्रयोग वाणी से होता है। मन्त्रशक्ति की बड़ी प्रशंसा की गयी है। वाणी से ऐश्वर्य प्राप्ति सम्भव है–

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।। ऋ० १०.१२५.२

वाणी कहती है कि मैं शत्रु विनाशक सोम को धारण करती हूँ; त्वष्टा, पूषा तथा ऐश्वर्य को धारण करती हूँ। हवि प्रदान करने एवं तर्पणशील देवत्व को प्राप्त करने वाले प्रयत्नशील यजमान के लिये याग के फल रूप धन को धारण करती हूँ। वाणी के सदुपयोग से वाणी का सार प्राप्त होता है। वह सार ही सोम है। वाणी की उत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिये निरन्तर अभ्यास करना ही यज्ञ है और वाणी का सौष्ठव ही यज्ञ का फल है।

वेद में वाणी को इतनी संस्कारवती बनाने का उपदेश दिया है जिससे बड़े-से-बड़ा अनिष्ट दूर किया जा सकता है। एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि सरस्वती कल्याण ही कल्याण करती है, कुत्सित अज्ञानान्धकार की विरोधिनी है, सबको चेताती है, सावधान करती है, सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त है, जमदग्नि और वसिष्ठ की भाँति स्तुति की हुई विद्या फलदायिनी होती है–

भद्रमिद् भद्रा कृणवत्सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।
गृणाना जमदग्निवत् स्तुवाना च वसिष्ठवत्।। ऋ० ७.९६.३

ब्रह्मविद्या को भी सरस्वती नाम से अभिहित किया गया है। उक्त मन्त्र में ऐसी ही विद्या के सम्बन्ध में संकेत मिलता है। यदि हमारी वाणी ब्रह्मविद्या को सिद्ध करले तो संसार के समस्त पदार्थों का दोहन कर सकती है। यह वाणी का तप है। वाणी के चार विभाग किये गये हैं–

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।। ऋ० १.१६४.४५

वाणी के चार पद हैं, उनको मेधावी विद्वान् ही जानते हैं, तीन बुद्धिरूपी गुहा में छिपे हुए हैं वे स्पष्ट रूप से नहीं जाने जाते। साधारण मनुष्य चौथे पद का व्यवहार करते हैं। विभिन्न सम्प्रदाय इन रूपों को अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात वैयाकरण मानते हैं। मन्त्र-कल्प-ब्राह्मण तथा चतुर्थी व्यावहारिकी वाणी याज्ञिक मानते हैं। ऋक्-यजु-साम तथा चतुर्थी व्यावहारिकी वाणी ऐसा नैरूक्त मानते हैं। तीन महाव्याहृतियाँ तथा एक प्रणव ऐसा कुछ ऋषियों का मत है। कुछ विचारक परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैरवरी ऐसा मानते हैं।

साधारण मनुष्य व्यावहारिकी वाणी का प्रयोग करते हैं। साधकजन चारों पदों का व्याख्यान कर सकते हैं वे ही पूर्ण उपयोग करते हैं। वैरवरी संज्ञक वाणी को मनुष्य बोलते हैं। सरस्वती की वन्दना, जैसाकि लोकाचार है, सभी पढ़े-लिखे लोग करते हैं और सभी अपने को सरस्वती का भक्त मानते हैं; परन्तु सरस्वती का भक्त वही है जो पूर्ण वाग्वेत्ता हो, वाणी के चारों पदों का प्रयोग कर सकता हो तथा नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात का सुष्ठु व्याख्यान कर सकता हो। वैदिक संहिताएँ, षडङ्ग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा स्मृति ग्रन्थों का स्वाध्याय करके समझना तथा उनका प्रयोग करना, दूसरों को सरहस्य समझा देना, महाव्याहृतियों के साथ ओंकार को जान लेना इत्यादि सरस्वती भक्त के लक्षण हैं।

आनन्दवर्धनाचार्य के मत में मननशील व्यक्तियों, अलौकिक विभूतियों में सरस्वती का स्रोत निरन्तर बहता है जो प्रतिभा विशेष का जनक है। यह वाणी के मर्मज्ञों को ही सुलभ है–

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्वन्यालोक २.६

प्रतिभा अध्यवसाय पर निर्भर है और इसके लिये बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अभ्यास ही सरस्वती की उपासना है। जो व्यक्ति इस उपासना को सिद्ध कर लेता है, वही सरस्वती का वरद पुत्र है। वाणी ईश्वर प्रदत्त सम्पत्ति है इसकी रक्षा करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। सम्पत्ति का संवर्द्धन तथा उपयोग दोनों ही अपेक्षित हैं। गुणों को धारण करने से वाणी की रक्षा एवं विकास होता है। सदैव सरस-मधुर-सत्य वाणी का प्रयोग साधक का लक्ष्य है और रसवती वाणी ही सरस्वती है।

❋❋❋

18. मित्र

हमारा जीवन कतिपय सम्बन्धों के सहारे चलता है। ये सम्बन्ध जितने समुन्नत तथा प्रगतिशील विचारों के होते हैं, हमारा व्यक्तित्व उतना ही उज्ज्वल बन जाता है। जीवन की सफलता अथवा असफलता भी बहुत अंशों तक इन सम्बन्धों पर निर्भर होती है। माता-पिता-बुआ - चाचा - ताऊ - नाना - नानी - मौसी - भाई - बहिन आदि ऐसे सम्बन्ध हैं जिससे हम सीधे प्रभावित होते हैं। इनमें से यदि एक भी प्रतिकूल पड़ जाये तो हमारा पारिवारिक ढाँचा कमजोर हो सकता है और यदि कोई भी उच्च विचारों वाला है तो हमारे लिये उन्नति का मार्ग खुल जाता है। विकासशील स्थिति में जब हमें अपेक्षित सहयोग नहीं मिल पाता तो हम सम्बन्धों से बाहर जाकर किसी उपयुक्त सहयोगी की खोज करने लगते हैं। संयोगवश कोई अपरिचित व्यक्ति जब उदात्त भावना लेकर हमारे विचारों से सहमत हो जाता है और हमारी मदद के लिये तैयार हो जाता है तो हम उसे अपना मित्र बना लेते हैं। यह सम्बन्ध सहानुभूति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जो स्नेह करता है और सम्मान करता है उसे मित्र कहते हैं। संस्कृत-साहित्य में मित्र शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग होता है और पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त हो तो सूर्य का वाचक होता है, परन्तु वैदिक साहित्य में कुछ दूसरी स्थिति है, शब्द का प्रयोग पुंल्लिङ्ग में होता है फिर भी अर्थ सीमित नहीं होता। वैदिक प्रयोगों में देखा गया है कि मित्र के साथ वरूण का उल्लेख प्राप्त है। 'मित्रावरूणौ' सम्बन्धी अनेक सूक्त हैं। जीवन के व्यावहारिक पक्ष में वरूण का अर्थ है वरण करने योग्य अथवा जो अपने मधुर व्यवहार से तथा स्नेह से आवृत करें, अपने वश में कर ले वह वरूण है। स्नेह ही मित्रता का बन्धन है। यह सम्बन्ध पारिवारिक परिसर से बहुत ऊपर है; स्वार्थ, ईर्ष्या प्रतिस्पर्धा बदले की भावना से सर्वथा पृथक् होता है। मैत्री सम्बन्ध अनुपम अतुलनीय होता है। मित्र के द्वारा होने वाले लाभों को गिनाया नहीं जा सकता। एक व्यक्ति पथभ्रष्ट होकर ठोकरें खाता है, दुर्व्यसनों में फँसा होने के कारण वह अच्छी राह पर नहीं चलता और समाज के लिये भयंकर बन जाता है। सगे सम्बन्धी उसे फटकार देते हैं। बेसहारा आपद्ग्रस्त व्याकुल होकर छटपटाता है, तब वह अनुभव करता है कि यदि उसे कोई अच्छा साथ मिल जाय तो वह भी सुखी जीवन व्यतीत करे। एक ऋचा में ऐसा ही चित्रण उपलब्ध है। एक जुआरी सब कुछ जुए में हार बैठा, परिवार वालों ने उसका बहिष्कार कर दिया तो वह चाहता है कि 'मुझे मित्र बना लो, मुझे सुख प्रदान करो और कठोर व्यवहार मत करो'–

मित्रं कृणुध्वं खलु मृकता नो मा नो घोरेण चरताभिधृष्णु। ऋ० १०.३४.१४

ऐसे समय में ही मित्र का मूल्य और मित्रता का रहस्य समझ में आता है। वास्तव में मित्र वही है जो विपरीत परिस्थितियों से निकाल कर सुगमता की ओर ले जाय। संसार में दो सम्बन्ध ऐसे हैं जो मृत्यु से भी बचा लेते हैं, उनमें एक है गुरु और दूसरा है मित्र। किसी को यदि ये दोनों मिल जायें तो स्वर्ग का द्वार खुला हुआ समझें। जो लोग निराश होकर आत्महत्या कर वैठते हैं वे मित्र से वंचित रहे, इसलिये मित्र वनाओ और जीवन के सुख को भोगो। 'मित्र उपदेश करता हुआ पुरुषार्थ करवाता है।'

'मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो'। ऋ० ३.५६.१

'हे मित्र ! तुम्हारी कृपा से कोई मनुष्य प्रयत्नशील हो जाता है, कर्म के द्वारा शिक्षा देता हैं। तुम्हारे द्वारा रक्षित व्यक्ति न तो मारा जाता है और न किसी से जीताा जाता है। पाप उसको छू नहीं पाता।'–

प्र स मित्र मर्त्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्।। ऋ० ३.५६.२

मित्र का एक पर्यायवाची 'सखा' भी है। यह शब्द समानता का सूचक है अर्थात् मित्र आपस में बरावर होते हैं। मित्र अनुचित कार्यों से रोकने का पूर्ण अधिकार रखता है। मित्र की वर्जना में भी आत्मीयता होती है। उसकी 'ना' भी दूसरे की 'हाँ' की अपेक्षा अधिक मनमोहक होती है। मित्र के वाक्यों में पूर्ण विश्वसनीयता होती है। व्यवहार इतना स्पष्ट होता है कि कुछ भी छिपा नहीं रहता। एक ही धारणा होती है 'वयं मित्रस्य सुमतौ स्याम' हम मित्र की सुमति में बने रहें। मित्र के लक्षण बताये गये हैं–

पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यं निगूहति गुणान् प्रकटीकरोति'।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः।।

सज्जनों ने अच्छे मित्र के लक्षण बताये हैं कि वह पाप से रोकता अर्थात् पाप नहीं करने देता, हित के कार्यों में लगाता है, छिपाने योग्य तथ्यों को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में पड़े हुए को छोड़ता नहीं, आवश्यकता पड़ने पर कुछ भी दे देता है। जो मित्र की आवश्यकता पूरी न कर सके वह मित्र नहीं 'न स सखा यो न ददाति सख्ये'। मित्र को मित्र का सम्मान करना चाहिये 'सखा सखिभ्य ईड्यः'।

मित्र बनाते समय किन-किन वातों का ध्यान रखना चाहिये, इस प्रकार का निर्देश भी मन्त्रों में उपलब्ध है–

त्वं सोम सूर एषस्तोकस्य साता तनूनाम्।
वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय।। ऋ० ९.६६.१८

पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।
सखित्वमावृणीमहे ।। ऋ० ९.६१.४

'उक्त मन्त्रों में सोम को सम्बोधित करके प्रार्थना की गयी है कि हम सौम्यस्वभाव वाले, सर्वप्रेरक, ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले, पुत्र पौत्रादि के देने वाले को उचित मैत्री के लिये वरण करते हैं। सबको पवित्र करने वाले तथा पवित्र किये हुए मनुष्य को उत्साहित करने वाले उत्तम स्वभाव के व्यक्ति को सखा बनाते हैं।'

मित्रता के योग्य वही व्यक्ति है जो किसी के लिये त्याग कर सकता हो, स्वयं पवित्र हो एवं दूसरों को भी पवित्र करता हो, सज्जनों का सहयोग करता हो, अच्छे कार्यों के लिये प्रोत्साहन करने वाला हो। आकस्मिक सहयोगी भी मित्र का स्थान ले लेते हैं। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही परमार्थी होते हैं तो प्रायः वे सब ही के मित्र होते हैं। यदि हम स्वयं इस प्रकार का चयन करते हैं तो भली-भाँति परीक्षण करने के उपरान्त ही मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। कुछ विद्वानों का अनुभव है कि आपत्ति में जो साथ दे वही सच्चा मित्र है। एक विद्वान् ने मनुष्य के परीक्षण के विषय में मार्गदर्शन किया है कि जैसे घिसकर, छेदन कर, तपाकर और हथौड़े से कूटकर चार प्रकार से सोने को परखा जाता है, उसी प्रकार त्याग से, शीलस्वभाव से, गुणों से, कर्म से पुरुष की परीक्षा की जाती है–

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

मित्रता के लिये अयोग्य व्यक्ति के सम्बन्ध में नीतिकार बताते हैं कि जो व्यक्ति हमारे सामने तो प्रिय भाषण करें और परोक्ष में हानि करे उस मित्र का सर्वथा त्याग करदे जैसे ऊपर से दूध दिखाई देने वाले विष के घड़े को त्याग देते हैं, वह व्यक्ति मित्रता के नाम पर कलंक है–

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत् तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ।।

❄❄❄

19. शिक्षा तथा अनुशासन

सम्प्रति अनुशासनहीनता एक प्रमुख समस्या बनी हुई है। पृथ्वी का वासी अपने आपको किसी नियम के बन्धन में नहीं बाँधना चाहता। मानव-मस्तिष्क की यह उन्मुक्त उड़ान ही विनाश का कारण है। एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से तथा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से छोटी-छोटी बातों पर टकराव होता है। इस प्रवृत्ति ने ही असहिष्णुता को जन्म दिया। इस दोष के कारण समाज की परिभाषा भी विकृत हो गयी है। कोई भी ऐसा कारगर उपाय नहीं सूझता जिससे इस समस्या का समाधान किया जा सके। अनुशासन का आधार शिक्षा है। शिक्षा मनुष्य के जीवन को पूर्णरूपेण प्रभावित करती है। शिक्षा के दो रूप हमारे सामने आते हैं; एक प्राचीन तथा दूसरा नवीन। दोनों की अलग-अलग पद्धतियाँ हैं। प्राचीन पद्धति ऋषियों की धरोहर है। ऋषियों ने ऐसा मार्गदर्शन किया कि प्रत्येक क्षेत्र में पूर्णता के दर्शन होते हैं। जीवन के भौतिक व आध्यात्मिक पक्ष सन्तुलित रहते हैं। सभी समस्याओं का समाधान मिलता है। ऋषि सूक्ष्म दृष्टि वाले होते हैं, अतः उन्होंने आत्मचिन्तन तथा आत्म-कल्याण की ओर अग्रसारित किया। पाठ्यक्रम ऐसा विचित्र कि जिस से लोक-परलोक का सुधार हो जाय। विशेषता यह थी कि उन्होंने शिक्षा को धर्म से जोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन स्वतः ही धार्मिक बन गया। धार्मिक वातावरण में अतृप्ति-भ्रान्ति आदि का लोप हो जाता है। ऐसी शिक्षा का उद्देश्य मानव निर्माण होता है, अतः मनुष्य के सभी दोष दूर हो जाते हैं और एक साधारण मनुष्य देवता बन जाता है। अब नवीन शिक्षा पद्धति पर दृष्टिपात करते हैं। इससे वही सब कुछ होता है जो हम वर्तमान में देख रहे हैं। कहीं भी सन्तोष का अनुभव नहीं होता। केवल अर्थसंग्रह ही जीवन की परिभाषा बन कर रह गयी है, परन्तु यह बड़ी अस्वाभाविकता है कि धन जितना बढ़ता जाता है, लिप्सा उससे कई गुनी हो जाती है। कितना भी धनार्जन हो जाय, परन्तु मनुष्य यह मानने को तैयार नहीं कि उसे अब आवश्यकता नहीं है। यह शिक्षा जीवन को इतना असन्तुलित व अमर्यादित बना देती है कि मनुष्य भयंकर कुकृत्य करने में भी संकोच नहीं करता। सभी सम्बन्धों का आधार आर्थिक ढाँचा बना हुआ है, जिसमें स्नेह-वात्सल्य-त्याग-अनुकम्पा आदि का कोई स्थान नहीं। इस शिक्षा पद्धति को धर्म से सर्वथा अछूता रखा गया है, यही इसकी विशेषता है। इस पद्धति में विनम्रता नाम की कोई चीज नहीं।

आज के संकीर्ण वातावरण में सभी चाहते हैं कि इन परेशानियों से छुटकारा मिले परन्तु शास्त्रों की बातों का आदेश मानने के लिये कोई तैयार नहीं। जिस पढ़ाई-लिखाई

में धर्म और आचरण का कोई स्थान नहीं तो अच्छे-बुरे का ज्ञान कैसे होगा ? स्वार्थ पूर्ति जैसे भी हो उसी उपाय को अच्छा समझा जाता है। मनुष्य को सदैव शिक्षा की आवश्यकता है। वेदों व शास्त्रों से उत्तम शिक्षा मिलती है। मनुष्य ज्ञान की दृष्टि से कभी भी अपने को पूर्ण न समझे, जहाँ भी सन्देह हो वहाँ शास्त्रों की शरण लेनी चाहिये। ऐसी बहुत-सी सूक्तियाँ उपलब्ध हैं–

इन्द्रो अस्मभ्यं शिक्षतु = परमात्मा हमें शिक्षा देवे।
शिक्षा स्तोतृभ्यः = स्तोतागणों को शिक्षा दो।
मित्रायुवो न पूर्पतिं
सुशिष्टौ मध्यायुवः
उपशिक्षन्ति यज्ञैः = मित्रता चाहने वाले तथा मध्यस्थता की इच्छा वाले, यज्ञों के द्वारा नगर के स्वामी के पास जा कर शिक्षा देते हैं।

अध्ययन–अध्यापन के प्रेरक आचार्यगण अपने अन्तःवासी का मार्गदर्शन करते हैं। यह ही वास्तविक शिक्षा है। इस सम्बन्ध में हमारी संस्कृति की झलक तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलती है–

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियधनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।'

–तैत्तिरीय उपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११

'वेद का अध्ययन कराकर आचार्य अपने आश्रम में रहने वाले विद्यार्थी को शिक्षा देता है–सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। आचार्य के लिये दक्षिणा के रूप में धन प्रदान कर (सन्तान) वंशपरम्परा को नष्ट मत होने दो। सत्य को मत त्यागो। धर्म का उल्लंघन न करो। शुभकर्मों में भूल मत करो। कल्याण के उपायों में लापरवाही न करो। वेदों के पढ़ने और पढ़ाने में भूल-चूक न करो। देव तथा पितृसम्बन्धी कार्यों को कभी न छोड़ो।'

ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी (अन्तेवासी) को इतना परिपक्व बना देना चाहिये कि वह गृहस्थ के भार को वहन करने में पूर्ण सक्षम हो। आत्म कल्याण, परोपकार, माता-पिता-अतिथि-विद्वान् का यथोचित सम्मान, वैदिक धर्म तथा संस्कृति का प्रचार-प्रसार, असहायों का सम्भरण, सत्याचरण तथा सद्व्यवहार आदि सभी प्रकार की शिक्षा छात्र के लिये अपेक्षित

है। जीवन का मार्गदर्शन करने वाले शास्त्रों से भली-भाँति अवगत करा देना चाहिये। यह कार्य आचार्य का है। आचार्य उसे कहते हैं जो स्वयं आचारवान् हो और शिष्य को आचरण सिखा सके। पढ़ाने वाले को चरित्रवान् होना अनिवार्य है तभी तो वह आचरण की शिक्षा दे पायेगा। शिष्य भी विनम्र भाव से आचार्य की शिक्षा को ग्रहण करे और बड़ों के प्रति सम्मान की भावना रखता हो। आज का विद्यार्थी केवल परीक्षार्थी बन गया है क्योंकि उसे निर्धारित पाठ्यक्रम की पुस्तकें पढ़ाकर छोड़ दिया जाता है। पाठ्य-पुस्तकें भी इस ढंग से पढ़ाई जाती हैं कि चुने हुए प्रश्नों के उत्तर तैयार करना ही छात्र का लक्ष्य हो जाता है। परीक्षा के पश्चात् स्वाध्याय व प्रवचन को सदैव के लिए तिलाञ्जलि दे दी जाती है। परिणाम यह होता है कि वह शास्त्रों से कोई लाभ नहीं उठाता। स्मरण रहे कि आयु जितनी आगे बढ़ती जाती है ज्ञान भी उतना ही अधिक अपेक्षित है अर्थात् आयु के साथ-साथ ज्ञान भी बढ़ता रहना चाहिये। स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति ही अपना ज्ञानवर्धन कर सकता है। 'शास्त्रं सर्वस्य लोचनम्' शास्त्र सबका नेत्र है। बिना शिक्षा तथा अनुशासन के कोई भी समाज ठीक प्रकार नहीं चल पायेगा। जिस समाज में सभी अशिक्षित तथा अनुशासनहीन हों तो उसका भगवान ही रक्षक है। शिक्षा तथा अनुशासन की शुद्ध परम्परा का निदर्शन एक ऋचा में मिलता है–

अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद् वै भद्रमनुशासनस्योत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्।। ऋ० १०.३२.७

'मार्ग से अनभिज्ञ अवश्य ही मार्ग से भिज्ञ पुरुष से पूछता है। वह ज्ञानी पुरुष से शिक्षित होकर उत्तम मार्ग को प्राप्त कर लेता है। गुरु के अनुशासन का यही कल्याणकारी परिणाम है कि अनुशासित पुरुष ज्ञान को प्रकाशित करने वाला, वाणियों की गति को पाता है। यह अनुशासन की महिमा है।'

शिक्षा और अनुशासन का शाश्वत सम्बन्ध है। शिक्षा देने वाला व्यक्ति ही अनुशासन सिखाने में सक्षम होता है। जो कोई भी अपने आप में कुछ कमी का अनुभव करे, वह उसे पूर्ण करने के लिये योग्य विद्वान् के पास जावे और जीवन के प्रकाश को प्राप्त करे। इस प्रकार समस्या का समाधान सरलता से हो जाता है। विद्वानों का कर्त्तव्य है कि वे अधिक से अधिक शिक्षा प्रदान कर अनुशासन बनाये रखें। एक ऋचा में ऐसी ही झलक मिलती है कि ऐश्वर्ययुक्त विद्वान् तुम को अनुकूल कहे, हित की बात कहे तथा मैं उससे अनुशासित होकर सुख को प्राप्त करूँ–

इन्द्रो विद्वाँ अनु हि त्वा चचक्ष तेनाहमग्ने अनुशिष्ट आगाम्।। ऋ ५.२.८

विद्वानों के द्वारा प्रयास करने पर भी जो लोग मनमाने ढंग से वर्तते हैं, किसी नियम को नहीं मानते तथा धर्माचरण से बहुत दूर हैं उनके लिये श्रुति में विधान है कि जो धन को सत्कार्य में नहीं लगाते, धन से विद्वानों तथा दीनजनों का भरण-पोषण नहीं करते उनके धन को विसरणशील बनाओ, सहायतार्थ वितरण करो। जो व्रतनियम आदि का पालन नहीं करते; परमात्मा, वेद तथा विद्वानों से द्वेष करते हैं और वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें प्रकाश से वञ्चित कर दो, अन्धकार में धकेल दो अर्थात् आचरणहीन जनों की उपेक्षा करते रहो, उनका सम्मान नहीं करना–

विसर्माणं कृणुहि वित्तमेषां, ये भुञ्जते अपृणन्तो न उक्थैः।
अपव्रतान्प्रसवे वावृधानान्ब्रह्मद्विषः सूर्यायावयस्व।। ऋ० ५.४२.९

समाज में जो व्यक्ति उच्छृंखल तथा उद्दण्ड हो, शिक्षा तथा अनुशासन का उल्लङ्घन करे तथा अन्यायपूर्वक भोगों को भोगे, किसी को सम्मान न दें तथा अपने कुत्सित आचरण से सबको दुखी करे; समाज से उसका बहिष्कार कर देना चाहिये। जैसे भी सम्भव हो सबको शिक्षा प्रदान कर अनुशासित बनाओ।

❋❋❋

20. संस्कार तथा मानव-निर्माण

संसार के समस्त जीवों में मनुष्य की चर्चा सबसे अधिक की जाती है क्योंकि कर्त्तव्यों का सम्बन्ध केवल मनुष्य से जुड़ा है। कर्म का बन्धन ऐसा है जो मनुष्य को सबसे अलग करता है। प्राज्ञ - पण्डित - विप्र - द्विज-पुरुष आदि अनेकों उपाधियों से सुशोभित किया गया है। बुद्धि विवेक से परिपूर्ण होना ही श्रेष्टता का प्रतीक है। पुरुष कहते ही उसे हैं जो अपने में पूर्ण हो। परमात्मा को भी पुरुष कहा गया है, परन्तु वह पुरुष विशेष है। सामान्य पुरुष के लिये कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है कि वह पुरुष विशेष के गुणों को यथाशक्ति ग्रहण करता रहे। जितनी भी अच्छाई हो सकती है वह इसमें होनी चाहिये। मनुष्य गुणों का भण्डार है। यह कहीं शिक्षा-उपदेश देता है, कहीं धन का दान करता है, कहीं सेवा करता है, कहीं दुर्वलों की रक्षा करता है तो कहीं उत्पादन एवं निर्माण करता है। कोई नयी वस्तु तैयार करके मनुष्य अपने को धन्य मानता है। मनुष्य की यह सहजात प्रवृत्ति है कि वह कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। एक छोटा-सा वच्चा भी जव खेलता है तो मिट्टी का घर वनाता है।

वच्चों में अनुकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है, वे जैसा देखते हैं वैसा ही करने लगते हैं। जीवन की अभिव्यक्ति पैतृक देख-रेख पर निर्भर होती है। वच्चे की आदत को सुधारना या विगाड़ना माता-पिता के अधीन है। घर के जैसे रीति-रिवाज होंगे, वच्चा उन्हीं को ग्रहण करेगा। सच तो यह है कि वच्चा परिवार का आदर्श प्रस्तुत करता है। जो माता-पिता आरम्भ से ही वच्चे के लिये प्रयत्नशील रहते हैं उनके वच्चे समाज का मार्गदर्शन करने वाले वन जाते हैं। वच्चे में अच्छाई भर देना, उसे एक अच्छा नागरिक वना देना तथा उत्तम संस्कारों से संस्कारित कर देना ही निर्माण है। वच्चा ही मानव वनता है। यदि वच्चों के निर्माण के सम्वन्ध में उपेक्षा की गयी तो जीवन असफल हो गया। वृद्धावस्था में कुछ लोग सन्तान से दुखी होते हैं और सन्तान किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाती। ऐसी सन्तान उपद्रव करने वाली होती है, जहाँ भी जाये वहाँ लोग उससे परेशान हो जाते हैं। ऐसी सन्तान निःसन्देह संस्कारहीन है। परिपक्व अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह एक संघर्ष की स्थिति वन जाती है। हम चाहें कि आरम्भ में अनदेखी करके युवावस्था में सन्तान को कावू में करलें, कदापि सम्भव नहीं। यजुर्वेद में एक मन्त्र आता है–सुप्रजाः प्रजाभिः स्याङ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः। 'मैं उत्तम प्रजावला होऊँ, मेरी सन्तान वीर हो तथा उस सन्तान का अच्छी तरह से पालन-पोषण कर सकूँ।' ऐसी आकांक्षा माता-पिता की होती है। वेद से

हमें उपदेश मिलता है कि सन्तान को उत्तम बनाना तथा पोषण के सम्यक् साधनों से उचित पोषण करना हमारा कर्त्तव्य है। ऋषियों ने मनुष्य के स्वाभाविक विकास का अध्ययन किया और उससे यह पता लगाया कि कब क्या करना चाहिये। इस प्रक्रिया को विभिन्न भागों में बाँट दिया गया। ये ही संस्कार कहे जाते हैं। माता के गर्भ से ही संस्कार बनने आरम्भ हो जाते हैं, इसको सूक्ष्म दृष्टा ही जानते हैं। मनुजी इस सम्वन्ध में लिखते हैं–

वैदिकैः कर्ममिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंसकारः पावनः प्रेत्य चेह च।। मनुस्मृति २-२६

द्विजों के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्यकर्मों से सम्पन्न होने चाहियें, ये संस्कार इस लोक तथा परलोक–दोनों में पवित्र करते हैं। इस लोक में समाज में विशिष्ट अधिकार अथवा स्थान दिलाते हैं और मृत्यु के बाद उत्तम योनि मिलती है। मनुजी का विचार है कि मनुष्य जीवन पवित्र होना चाहिये और यह कार्य संस्कारों के द्वारा ही सम्भव है। इस विषय में बहुत-से विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। संस्कारों में की जाने वाली क्रियाओं तथा प्रयुक्त मन्त्रों का निम्नलिखित उद्देश्य होता है–

1. अवाञ्छित प्रभावों का निराकरण।
2. अभीष्ट प्रभावों का आमन्त्रण।
3. धन, धान्य, पशु, सन्तान, दीर्घायु, समृद्धि, शक्ति और बुद्धि की प्राप्ति।
4. स्वाभाविक दूषण का उन्मार्जन।
5. सामाजिक विशेषाधिकार तथा अन्य दायित्व की प्राप्ति।
6. स्वर्ग तथा मोक्ष का विधान।
7. व्यक्तित्व निर्माण तथा नैतिक विकास की व्यवस्था।
8. समस्त शारीरिक क्रियाओं का आध्यात्मिकता से अनुप्राणित करना।
9. अन्तःकरण की शुद्धि।

पूर्णतः पवित्र व्यक्ति को मनुजी ने द्विज की संज्ञा दी है, 'संस्काराद् द्विज उच्यते' संस्कार से द्विज बनता है। मनुष्य का यह विशेषाधिकार है, जिसके साथ शास्त्रोक्त अनुष्ठान किये जायेंगे वह द्विज बन जायेगा। माता-पिता-आचार्य ये तीनों मिलकर द्विज बनाते हैं।

ऋग्वेद में संकेत मिलता है कि मन पर सभी क्रिया-कलापों का प्रभाव पड़ता है। शुद्धिकरण सम्वन्धी जितने भी अनुष्ठान किये जाते हैं, उनसे मन की स्वतः ही शुद्धि हो जाती है। सबसे कठिन कार्य यही है। यदि मन शुद्ध रहे तो फिर कोई खतरा नहीं। ऐसी शुद्धि, जिस पर कभी भी गन्दी छाप न पड़ सके, संस्कार कही जाती है। मन सबसे अधिक विचलित होता है। यह ज्ञान तथा कार्य दोनों से ही बराबर सम्वन्ध रखता है इसी कारण

मन को दोनों अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के समान रूप से गिना जाता है। इसको संस्कारित कर लेना सबसे बड़ी सफलता है। हम ऐसा यत्न करें कि जीवन में कोई-भी कार्य इस प्रकार का न होवे जिससे कि मन पर उसका कुप्रभाव पड़े। संस्कारवान् व्यक्ति की यही पहचान है कि वह किसी भी गन्दगी को ग्रहण नहीं करता। बाल्यावस्था से ही बच्चे को शुद्धि का मन्त्र दिया जायेगा तो उस पर विपरीत प्रभाव पड़ ही नहीं सकता। बच्चे का मन पूर्ण संस्कारवाला हो जाता है। मन के सम्बन्ध में एक ऋचा है–

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्यागमत्।। ऋ० ८.३३.९

जो मन उत्तेजित अवस्था में बेकाबू तथा बलिष्ठ हो जाता है वही मन स्थिर होकर बुरी प्रवृत्तियों से संघर्ष करने के लिये संस्कृत (संस्कारों के द्वारा शुद्ध) होकर पूर्ण सामर्थ्ययुक्त हो जाता है। यदि यह आत्मा की आवाज सुन लेता है तो ऐश्वर्य सम्पन्न कहीं भी नहीं भटकता और निरन्तर उसी (आत्मा की) ओर अग्रसर होता है। उक्त मन्त्र में मन का मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। बिगड़ा मन भयंकर होता है क्योंकि सदैव विपरीत दिशा को भागता है। यह विनाश की स्थिति होती है। यदि उसे संस्कृत कर लिया जाय तो बड़े-से-बड़े शत्रु से भी संघर्ष करने का सामर्थ्य हो जाता है। हमें कुछ भी प्राप्त करना है, मन को पहले लगाना होता है, बिना मन लगाये लक्ष्य-प्राप्ति असम्भव है। मन की शक्ति को नापा नहीं जा सकता, इस शक्ति के कारण बड़े-से-बड़ा अनर्थ हो जाता है। महाभारत का बहुचर्चित पात्र दुर्योधन मन से ही खराब था। उसका मन संस्कृत नहीं था, सदैव विनाश की सोचता था। विद्वानों के द्वारा बार-बार समझाने पर भी उसे कुछ समझ में नहीं आता था। वह अपने मन का दास बन चुका था। अधिक समझाने पर वह मजबूर होकर कह देता है,

'जानामि धर्मं' न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'

मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु धर्म में मेरा मन नहीं लगता, मैं अधर्म को भी जानता हूँ किन्तु उससे मेरा मन हटता नहीं। यह संस्कारहीन सन्तान के मन का उदाहरण महाभारत में प्रस्तुत किया गया है। आर्यों को इससे शिक्षा लेनी चाहिये। माता-पिता सावधान होकर अपने बच्चों के संस्कार बनावें, जिससे उनका मन पवित्र होकर अच्छाई की ओर अग्रसर हो।

***

21. आज की साधना

समय को वर्तमान-भूत-भविष्य इन तीन भागों में विभाजित किया गया है। वर्तमान में हमारा शाश्वत सम्बन्ध है। जो कुछ भी हम कर रहे हैं वह वर्तमान है; जो किया है वह भूत तथा जो करेंगे वह भविष्य है। वर्तमान को यदि हम यूँ ही गँवा देंगे तो भूत-भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। संसार की नींव वर्तमान पर खड़ी है। यदि हमारा वर्तमान कमजोर है तो उसे पुष्ट करने के लिये हम भूत का अनुभव तथा भविष्य का उल्लास लेते हैं। कभी-कभी भविष्य की कल्पनाओं के सहारे वर्तमान को वहन किया जाता है। जब हम शुद्ध हृदय से चिन्तन करते हैं तो हमारे सामने केवल वर्तमान ही होता है। कभी भी वर्तमान को भविष्य का प्रतिभू (जमानती) नहीं समझना चाहिये। ऐसा नहीं कि आज हम काम को विगाड़ लें तो भविष्य उसे ठीक कर देगा, भविष्य तो फल देता है। हम यह सोचकर भी कार्य न करें कि थोड़ा-सा काम कर लेने से भविष्य अपने प्रभाव से अत्यधिक फल प्रदान करेगा। कभी-कभी लक्ष्य कुछ होता है तो फल कुछ और। एक विद्यार्थी प्रथम आने के उद्देश्य से अध्ययन कर रहा है, यदि वह प्रथम न भी आ सका तो उसकी प्रतिष्ठा तो बढ़ेगी ही। कुछ लोग भविष्य पर इतना अधिक जोर देते हैं कि वर्तमान डगमगा जाता है और उनका कोई भविष्य नहीं बनता। वर्तमान के साथ कोई बाजी नहीं लगानी चाहिये। जुआरी जुए में धन का अपव्यय कर रहा है, यह समझकर कि जीत होने पर उसका भविष्य सुखद तथा समृद्ध होगा परन्तु जुआरी की कल्पनाओं का महल शीघ्र ही ध्वस्त हो जाता है। जुआरी के द्वारा की गयी वर्तमान की उपेक्षा का यह प्रतिफल है क्योंकि उसने धन का विनियोग वर्तमान से हटकर भविष्य के लिये किया था। यदि वश में करना है तो केवल वर्तमान को–

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरि रेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा।। अथर्व० १९.५३.१

'कालरूपी घोड़ा अपनी स्वाभाविक गति से चल रहा है सप्ताह के सात दिवस उसकी रश्मियाँ (लगाम) हैं, क्षण-पल रूपी असंख्य आँखें हैं, वह कभी बूढ़ा नहीं होता, अत्यन्त बल वाला है, उस पर विद्वान्-बुद्धिमान् चढ़ते हैं तथा उसके चक्र (घूमने के स्थान) समस्त भुवन हैं।' मन्त्र में समय को एक घोड़ा बताया गया है जो चलता ही रहता है। मनुष्य को उस पर सवार रहना चाहिये। सातों दिनों में एक दिन भी व्यर्थ हाथ से न चला जाय। एक लगाम भी छूट गयी तो घोड़ा बेकाबू हो जायेगा। यह वर्तमान का दार्शनिक वर्णन है। आज तो हमारे सामने है, कल का क्या स्वरूप होगा कुछ पता नहीं; फिर भी यदि हम वर्तमान

को खो देंगे तो भविष्य स्वतः ही नष्ट है–

यः ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेह हि।।

केवल वर्तमान ही ध्रुव (निश्चय) है, यह ही हमें सब कुछ दिलाता है। आज हम किसी से कुछ सुविधा चाहते हैं तो हम आज ही ले लें कल का क्या भरोसा कि वह देवेगा या नहीं। यह भी निश्चय नहीं कि वह कल किस परिस्थिति में होगा। कोई नहीं जानता कि किसी का मन कल कैसा होगा ? चित्र परिवर्तनशील है, बड़ी-बड़ी प्रतिज्ञाएँ झूठी हो जाती हैं, लेख पलट जाते हैं, निश्चय किया हुआ अनिश्चय में बदल जाता है–

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्।
अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। ऋ० १.१७०.१

अपने किये हुए कर्म का परिणाम हमें आज ही चाहिये। हम जानते हैं कि परमेश्वर न्यायकारी है, वह कर्म का यथायोग्य फल देता है; फिर भी हमें धैर्य नहीं होता और फलप्राप्ति की प्रार्थना करते रहते हैं। यज्ञ करने वाला व्यक्ति इसी प्रकार की प्रार्थना करता है–

मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु न कवे।
अद्या कृणुहि वीतये।। ऋ० १.१३.२

'हे सर्वरक्षक। सर्वद्रष्टा प्रभो ! हम मधुमय उत्तमोत्तम पदार्थों की हवि देकर यज्ञ कर रहे हैं, इस यज्ञ को देवों में स्थापित करो। यज्ञ का प्रभाव सर्वत्र फैले और सुख मिले। विद्वान् भी इसका सेवन करते रहें। यह सब कुछ आज ही कर दीजिये।' हम परमेश्वर से ऐसी अपेक्षा करते हैं तो थोड़ा अपनी ओर भी निहार लें कि हम कितने सुपात्र हैं ? हमारा कर्त्तव्य होता है कि महत्त्वपूर्ण कार्य को यथाशीघ्र कर डालें। हमने दान का संकल्प लिया है तो आज ही दान कर दें। किसी को भोजन कराना है तो आज की करा दें। किसी असहाय की सहायता करनी है तो आज ही कर दें। विद्या का अध्ययन करना है तो विलम्ब न करें। श्रेष्ठ कार्यों का सम्पादन ही वर्तमान का सबसे बड़ा उपयोग है। मन्त्र में 'अद्या कृणुहि' हमें प्रेरणा करता है कि आज करो।

एक अन्य ऋचा स्पष्ट रूप से उद्बोधन करती है कि आप्त वचनों का जो तत्काल सेवन करता है उसके लिये उत्तम बल, गाय, घोड़े तथा पुष्टिकारक पदार्थ उपलब्ध होते हैं। वेद वाणी के उपदेश को सुनते ही आचरण में ढालना आरम्भ कर दो फिर कोई कमी नहीं रहेगी–

अग्नीषोमा यो अद्य वामिदं वचः सपर्यति।
तस्मै धत्तं सुवीर्यं गवां पोषं स्वश्व्यम्।। ऋ० १.९३.२

आज ही करने का कुछ विलक्षण फल होता है। समय को टालकर कार्य करना अपनी सफलता को चुनौती देना है। इस प्रक्रिया का व्यवहार पक्ष कुछ कठोर प्रतीत होता है। माता-पिता अपने बालक से तथा अध्यापक अपने विद्यार्थी से यही तो कहते हैं परन्तु बालकों को तथा विद्यार्थियों को कुछ भार महसूस होता है कि उन्हें ऐसा क्यों कहा गया ? छात्र जीवन से ही यह अभ्यास डाला जाता है तभी बड़े होकर समय का पालन करते हैं। यदि आरम्भ से ढीला छोड़ दिया जाय तो जीवन भार बन जाता है। छात्र जीवन का यह मुख्य प्रशिक्षण है। कुछ छात्र परीक्षा के आने तक दिनचर्या तथा टाइमटेबल बनाते रहते हैं। ऐसे प्रमादी छात्र एक वर्ष व्यर्थ ही खो देते हैं क्योंकि नियमित रूप से अध्ययन करने वाले को ही सफलता मिलती है। जो समय से पिछड़ जाता है वह जीवन में ही पिछड़ जाता है। विद्यार्थी अपने को वर्तमान से जोड़ें, एक भी दिन स्वाध्याय से खाली न रहे, वर्तमान का महत्त्व समझें और व्यर्थ के झमेले में न पड़ें। वर्तमान एक साधना है अतः अनवरत साधना करके आज को सफल बनावें।

❋❋❋

22. अनार्ष धूर्तचेष्टितम् (अनार्ष से आर्ष की ओर)

परमेश्वर की कामनारूपी बीज से सृष्टि की उत्पत्ति का संकेत वेद में मिलता है। गीता के अनुसार सर्वप्रथम सात ऋषि और चार मनु प्रजापति के सङ्कल्प से प्रकट हुए और उनसे सृष्टि का क्रम चला। बृहदारण्यक के अनुसार सकल ब्रह्माण्ड एक अण्डाकार था और उससे विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई। सारांश यह है कि सृष्टि की दिव्य उत्पत्ति स्वीकार की गयी है। इतना स्पष्ट है कि हम ऋषियों की सन्तान हैं। मनुष्य को संसार में रहने के लिये दिव्य ज्ञान भी दिया गया, जिसे वेद कहा जाता है। ज्ञान का नाम वेद है। ज्ञान के तीन स्रोत हैं; ज्ञान - कर्म - उपासना। आदि ऋषियों के द्वारा वेदज्ञान सृष्टि को मिला। वेदको ईश्वरीय ज्ञान मानने में कोई सङ्कोच नहीं होना चाहिये। मनुष्य के लिये सर्वथा निष्पक्ष एवं निर्भ्रान्त मार्ग वेद में ही सुझाया गया है।

महाभारत के युद्ध में सर्वस्व स्वाहा हो गया। उसके उपरान्त कोई ऐसी विभूति उत्पन्न नहीं हुई जो खोया हुआ धन (ज्ञान) वापस लाकर समाज को नवीन चेतना प्रदान कर सके। यहीं से मानव जाति के पतन का इतिहास आरम्भ होता है। तब से यही सिलसिला जारी है। भारी भीड़ में यदि कोई गिर जाये तो सभी उस पर पैर रखते हुए चले जाते हैं। ठीक ऐसा ही वेद के साथ हुआ, सभी उसे कुचलते रहे किसी ने उद्धार नहीं करना चाहा। आज का मनुष्य इतना उच्छृङ्खल हो गया है कि स्वयं ही भगवान बन बैठा तथा भोली-भाली जनता को घोर अन्धकार में धकेल दिया। स्थिति ऐसी शोचनीय हो गयी कि कोई भी उपाय सफल नहीं हो रहा है। स्वामी दयानन्द के द्वारा वेदोद्धार आन्दोलन चलाया गया जो आज भी अग्रसर है।

भगवानों की इस बाढ़ को रोकने का कोई उपाय वर्तमान में नहीं सूझ रहा है। अशिक्षित, दुर्व्यसनी, पतित एवं भ्रष्ट लोग समाज के संचालक बने हुए हैं। वे पहले यह जान लेते हैं कि जनता की भावना किस ओर आकर्षित हो सकती हैं ? फिर वैसा ही रूप धारण कर भक्ति और मुक्ति के ठेकेदार बन जाते हैं। उनका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनके भक्तों को कोई भी सीधी राह पर नहीं ला सकता। तुलसीकृत रामचरित मानस वर्तमान में भ्रष्टाचार का अच्छा साधन बना हुआ है। तुलसीदास भी श्री राम के प्रमुख दलाल हैं जो किसी पैगम्बर से कम नहीं हैं। उलटा-सीधा अनर्गल कथानक जोड़कर अपना विवेक खो बैठते हैं। वे तनिक भी विचार नहीं करते कि क्या पढ़-सुन रहे हैं। हनुमान जी जब लंका में गये तो विभीषण राम-राम रट रहा था। यह मूर्खतापूर्ण योजना है कि जहाँ श्री राम को कोई जानता भी नहीं वहाँ उसे उपास्यदेव अर्थात् परमेश्वर का स्थान दिया जाय। इसे तुलसी की गप ही कहा

जा सकता है। एक ओर हनुमान चालीसा का ढोंग खड़ा कर दिया; जिससे सारे काम सिद्ध हो जाते हैं। १९६२ ई० में भारत-चीन युद्ध हुआ, जिसमें भारत की बुरी तरह पराजय हुई, तब ये हनुमान चालीसा वाले कहाँ सो रहे थे ? आजकल जहाँ तहाँ आतङ्कवाद का भय छाया हुआ है तो हनुमान चालीसा वाले क्यों न नियुक्त कर दिये जायँ ?

पुराणों में बहुत से भगवानों का वर्णन है। मनुष्य को पथभ्रष्ट करने के लिये पुराण सबसे अधिक उत्तरदायी हैं। जितनी भी कुरीतियाँ आर्यों में प्रविष्ट हुई हैं, सब पुराणों की कृपा है। रूक्मिणी राधा और सत्यभामा का सम्बन्ध श्रीकृष्ण जी के साथ स्पष्ट तौर से माना गया है। फिर सोलह हजार पत्नियाँ एक ही बार ले आते हैं। इसके अतिरिक्त स्नान करती हुई स्त्रियों को नग्न शरीर दिखाने के लिये विवश करते हैं। श्रीकृष्ण को कामवासना से इतना क्यों जोड़ दिया गया कुछ समझ में नहीं आता। ऐसा आभास होता है कि पुराणों के रचयिता वेश्या प्रेमी थे और उनकी कामवासना पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। एक पुराण की दूसरे पुराण में निन्दा की गयी है। पुराणों का भी एक युग रह चुका है और उस युग में मनुष्य का जीवन संयम रहित था एक दुर्गासप्तशती ऐसे व्यक्ति ने बनायी जो मदिरा-मांस का व्यसनी था। उस पुस्तक में देवी के प्रत्येक अंग का खुला वर्णन है जैसे किसी वेश्या का वर्णन किया जा रहा हो। कोई भी समझदार व्यक्ति अपनी माता का वर्णन इस प्रकार नहीं कर सकता। साथ ही यह भी लिख दिया है कि जो पाठ करे शीघ्र ही कार्य सिद्ध होवे। स्थान-स्थान पर 'ब्रह्मोवाच' का प्रयोग हुआ है। ब्रह्मा जी भी इतनी घटिया किस्म की कथा कहते हैं तो फिर साधारण मनुष्य की तो बात ही अलग है। एक सन्तोषी का ऐसा भ्रामक प्रचार चल रहा है कि स्त्रियाँ तो पूर्णतः विवेकहीन हो जाती हैं। छोटी अवस्था में बच्चियों को उसकी पूजा सिखायी जाती है; परिणाम यह होता है कि वे जीवन भर मूर्ख ही बनी रहती हैं। कहीं बाल योगेश्वर अपनी शिष्या को प्रेम जाल में फँसा कर भगवान बनने का नाटक करता है तो कहीं पथभ्रष्ट रजनीश यौनशिक्षा देकर योग का प्रचार कर रहा है। भगवान लगातार पैदा होते जा रहे हैं और मरते जा रहे हैं। फिर भी लोगों की आँखे नहीं खुल रही हैं। मरने के बाद भी रजनीश के अनुयायी उसे भगवान ही मान रहे हैं। वेद-शास्त्रों के ज्ञान से रहित सीधे ही भगवान बनने का दावा करने वाले जनता को क्या उपदेश दे सकते हैं ?

अब प्रश्न यह है कि समाज को इन धूर्तों से कैसे बचाया जाय ? कुछ लोगों की मान्यता है कि अपनी-अपनी भावना के अनुसार कोई किसी को भी माने; इस विषय में छूट होनी चाहिये। परन्तु इतना कहने से काम नहीं चलेगा। भावना के आधार पर तो बलि आदि बहुत से कुकृत्य पनप रहे हैं। मुख्य विषय मानवसुधार का है कि इन व्यापक विकृतियों से समाज को कैसे बचाया जाय ? मनुष्य जब तक ईश्वर और धर्म का वास्तविक रूप नहीं

जानेगा तव तक परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं। वास्तव में ये भावनाप्रधान भक्त ईश्वर और धर्म के विषय में कुछ भी नहीं जानते। धर्म और ईश्वर में से धर्म को पहले जानना जरूरी है। धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? उसका पालन किस प्रकार किया जाय ? उससे लाभ क्या होगा ? ये बातें जव तक व्यक्ति नहीं जानेगा, वह धर्म का आचरण ही नहीं कर पायेगा। आज देश की जो दुर्दशा हो रही है उसका एकमात्र कारण यही है। यहाँ की अधिकांश जनता धर्म से अनभिज्ञ है। इसका एक कारण धर्म-निरपेक्ष शासन की स्थापना भी है। मनुजी ने धर्म के (धृति-क्षमा-दम-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रह-धी-विद्या-सत्य-अक्रोध) दस लक्षण वताये हैं क्या इनको सव स्वीकार करते हैं ? पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार यम-नियम का पालन सव करते हैं ? क्या वेद की सत्ता तथा वैदिक सिद्धान्तों में सव का दृढ़ विश्वास है ? क्या मानव जीवन का उद्देश्य सव जानते हैं ? जव तक सामान्य जीवन धर्म से नहीं जुड़ेगा तव तक सुधार नहीं हो सकता।

जहाँ पण्डित जी ही वेद का विरोध करते हों वहाँ वेद की वात करना अप्रासंगिक सा लगता है। ये लोग समझते हैं कि वेद प्रचार से उनकी जीविका का हनन होगा। इसी कारण आर्यग्रन्थ न तो स्वयं पढ़ते हैं और न अपने अनुयायियों को ही पढ़ने देते हैं। स्त्रियों को तो इतना भयभीत करते हैं कि वेदमन्त्र का पाठ करने से स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। किसी से धूर्तता से धन ठगकर भगवान की कृपा का वहाना वना देते हैं। मनोकामना पूरी करने के लिये रूद्राभिषेक, सत्यनारायण कथा, सन्तोषी का व्रत, हनुमान चालीसा का पाठ, कीर्तन तथा जगराता आदि वहुत से उपाय खोज निकाले हैं। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ और कर्त्तव्य का क्या अस्तित्व रह जायेगा ? गंगा का स्मरण करने से ही सारे पाप धुल जायेंगे तो सन्ध्या-हवन-दान आदि करने की क्या महत्ता रह जायेगी ? जो व्यक्ति कर्मफल व्यवस्था में विश्वास नहीं रखता उसे शुभ-अशुभ कर्म में क्या अन्तर दिखायी देगा ? ऋषियों की वातों को मनवाने के लिये पाखण्ड को फैलाने वाले धर्म-गुरुओं पर कावू पा लेना आवश्यक है। उनके अनुयायी उनके अनुसार ही कार्य करेंगे। यह तभी सम्भव है जवकि प्रचार योजनावद्ध हो, कुछ लक्ष्य बनाकर कार्य किया जाय। दूसरे सम्प्रदायों के लोग सुनिश्चित कार्यक्रम वनाकर प्रचार करते हैं। अनार्ष एवं विषैली भक्ति से यथाशीघ्र निरीह जनता को वचाया जाय अन्यथा एक दिन ऐसा भी आयेगा कि वेद-शास्त्रों का आर्षज्ञान का नाम शेष रह जायेगा। यदि अन्धकार बढ़ रहा है तो प्रकाश करने वाले की कमी है। हम सव मिलकर व्रत लेंवें कि वेदज्ञान की ज्योति को अधिक से अधिक फैलावें और अन्धेरे दिलों में प्रकाश की किरण जगावें।

❋❋❋

23. ओङ्कार

'ओ३म् खं ब्रह्म' यह यजुर्वेद की सूक्ति है। परमात्मा का नाम ओ३म् है, आकाश की भाँति सर्वव्यापक तथा विशाल है और उसे ब्रह्म भी कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली में लिखा है 'ओमिति ब्रह्म। अमितीद ँ सर्वम्।' ओ३म् ही ब्रह्म है और सब कुछ दृश्यमान जगत् ओ३म् ही है। योगदर्शन में ऐसा ही भाव एक सूत्र में आता है 'तस्य वाचकः प्रणवः' उस परमात्मा का वाचक प्रणव अर्थात् ओङ्कार है। छान्दोग्य उपनिषद् में ओङ्कार की उपासना पर बल दिया गया है–'ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत' ओ३म् अक्षर (अविनाशी) है, उद्गीथ है, इसकी उपासना करनी चाहिये। उद्गीथ का अर्थ है उच्च स्वर से गान करना। ओङ्कार को ही सब कुछ बताने का अभिप्राय है कि संसार का प्रत्येक पदार्थ ओङ्कार से भावित तथा अनुप्राणित है; जहाँ जो कुछ है वहाँ ओङ्कार की सत्ता है। सर्वव्यापक होने के कारण इससे कुछ भी बचा नहीं रहता–

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम् भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एवं
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।। माण्डूक्य - १

ओ३म् अविनाशी है तथा सम्पूर्ण जगत् उसी का व्याख्यान अर्थात् महिमा है। संसार उसकी महिमा को बताता है, कण-कण से ओङ्कार की महिमा प्रकट होती है। भूत-वर्तमान-भविष्य सब कुछ वही है इन तीनों कालों के अतिरिक्त भी यदि कुछ है तो वह ओङ्कार ही है। यदि यह शङ्का हो कि ओङ्कार का स्वरूप क्या है तो यह शङ्का निर्मूल है क्योंकि परमात्मा या ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं, वह निराकार निरवयव है। फिर भी सरलतापूर्वक जानने के लिये ऋषियों ने प्रयास किया है–

सोऽयमात्माध्यक्षर मोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा।
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।। माण्डूक्य-८

वह परमात्मा अपने वाचक प्रणव के अधिकार में (प्रकरण में) वर्णित है। अध्यक्षरम् = अक्षर ओङ्कार के माध्यम से ही जिसका वर्णन हुआ है, उस अक्षर अर्थात् ओङ्कार के जानने पर ही परमात्मा जाना जाता है। वह अधिमात्रम् अर्थात् तीन मात्राओं से युक्त है। ओङ्कार की तीन मात्राएँ हैं, अकार, उकार तथा मकार अर्थात् अ - उ - म। ये ही उसके तीन पाद (चरण) हैं और ब्रह्म के चरण या पाद ही ओङ्कार की तीन मात्राएँ हैं। ओङ्कार तीन मात्राओं से भिन्न नहीं है, परमात्मा भी अपने तीन पादों से अलग नहीं है। हम जितना भी ओङ्कार के विषय में जान लेंगे, वही परमेश्वर का स्वरूप है। ओङ्कार की तीन मात्राओं की अर्थसहित भावना करके ही उसे स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है। जैसा कि योगदर्शन में भी कहा गया है 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' प्रणव (ओङ्कार) के अर्थ की भावना (मनन) करना ही उसका जप है। मनुजी ने भी इसे इसी रूप में बताया है–

प्रजापति ब्रह्मा ने अ उ म तथा भूः भुवः स्वः को तीन वेदों में साररूप में दोहन किया था। इसी दृष्टि से मनुजी ने व्याहृतिपूर्वक ओङ्कार जप का विधान बताया है। व्याहृतियों में ओङ्कार का रहस्य छिपा हुआ है। ओङ्कार के जप से ध्यान-धारणा-समाधि का अनुष्ठान सम्पन्न होता है। इस जप को योगियों ने चार चरणों में विभाजित किया है–

सर्वप्रथम वाणी से जप करना और मन में अर्थों की भावना करना। इस जप में देहाभिमान रहता है कि मैं शरीरधारी हूँ। द्वितीय चरण में जप मन से होता है अर्थ की भावना इसमें करनी होती है। इस स्थिति में सूक्ष्म शरीर (पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण तथा मन - बुद्धि) का अभिमान रहता है। तीसरी स्थिति में जप नहीं होता, केवल धारणा की जाती है तथा अन्दर से कोई ध्वनि सुनायी देती है। इस स्थिति में ओङ्कार का ज्ञान हो जाता है। चौथी स्थिति में मात्रारहित ओ३म् का ध्यान किया जाता है और साक्षात्कार हो जाता है।

अर्थ की भावना सहित जप का विधान यह है कि सर्वप्रथम अकार मात्रा में मन लगाकर विराट् (जगत् में फैला हुआ परमात्मा का स्वरूप), विश्व (शरीरस्थ आत्मा का भान) तथा अग्नि (पृथिवी स्थानीय देवता)–ये तीन अर्थ अकार से जानने चाहियें। 'अ' कहते ही इन सबका ज्ञान होना आवश्यक है। उकार अर्थात् 'उ' के उच्चारण या मनन से हिरण्यगर्भ (तेजपुंज रूपी परमेश्वर), तैजस (सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से आत्मा का स्वरूप), वायु (अन्तरिक्षस्थानीय देवता) इन सबका ज्ञान होना चाहिये। 'म' से ईश्वर, प्राज्ञ (कारणशरीर के सम्बन्ध से आत्मा का स्वरूप) तथा आदित्य (द्युस्थानीय देवता) का ज्ञान होना चाहिये। चौथी स्थिति में मात्रारहित जप, शुद्ध चैतन्य अर्थात् परमात्मत्व का प्रकाश हो जाता है।

ओङ्कार का जप तथा उपासना करने से अमृतत्व और अभय की प्राप्ति होती है, वाणी फलवती होती है। मनुजी वताते हैं कि दोनों सन्ध्याओं में व्याहृति सहित ओ३म् का जप करने से वेदवेत्ता को वेद के स्वाध्याय का पुण्यलाभ होता है–

> एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
> सन्ध्ययोर्वेदविद् विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।। मनुः २-७८

मुण्डक ऋषि के अनुसार–

> प्रणवोधनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेध्दव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। मुण्डक० २.२.४

ओङ्कार ही धनुष है, आत्मा बाण है और परमेश्वर लक्ष्य है; प्रमादरहित होकर लक्ष्य को वेधकर तन्मय हो जाना चाहिये। जीवन का लक्ष्य ओ३म् है अतः जीवन को उसी के लिए लगाना चाहिये। श्रुति का आदेश है कि हे मनुष्य तू ओङ्कार का स्मरण कर–

'ओ३म् क्रतो स्मर'

24. अपूर्व-अक्षय कोश

जब से मनुष्य सामर्थ्यवान् होकर कार्यक्षेत्र में उतरता है तो वह भौतिक संग्रह (धनार्जन) को प्रमुखता देता है। आज का बड़प्पन धन से नापा जाता है। समाज में प्रतिष्ठा उसी की होती है जो सर्वाधिक धनी है। सभाओं, उत्सवों तथा विशेष अवसरों पर भी इस नियम का पालन किया जाता है। वर्तमान प्रजातन्त्र प्रणाली में सांसद - विधायक - मन्त्री आदि बनने में भी धन मुख्य भूमिका निभाता है। मित्रता जैसे पवित्र सम्बन्धों में भी धन ने अपनी पहचान बना ली है। इसी विचार से किसी विद्वान् ने यह श्लोक बनाया होगा–

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थाः स हि पण्डितः।।

आज मनुष्यता एवं विद्वत्ता का प्रतीक धन हो गया है। इसी कारण धन को कमाते समय नैतिक-अनैतिक का कुछ भी विचार नहीं किया जाता, मानो धन ही हमारी नैतिकता का निर्णायक है। यह ही हमारे असन्तुलन का कारण है। केवल अपने लिये नहीं अपितु आगामी पीढ़ियों का जितना प्रबन्ध सम्भव है, किया जाता है। मानसिकता यह है कि धन के रहते कोई कठिनाई आ ही नहीं सकती। हरेक धनपति अपने को पूर्ण सुरक्षित अनुभव करता है। जिसके पास स्थायी कोश है वह अपने आपको भाग्यशाली समझता है। भोगलिप्सा में पड़ा हुआ व्यक्ति यह कभी नहीं विचारता कि अर्जित सम्पत्ति कब तक उसका साथ देगी ? मनुष्य इतना तो अवश्य जानता है कि एक दिन उसे दुनिया को छोड़ना पड़ेगा फिर भी वह इतने ही से सन्तोष कर लेता है कि अगली पीढ़ियाँ तो सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगी। यह कभी नहीं सोचा कि आगामी पीढ़ी की विचारधारा कैसी होगी ? यह धन उस पर क्या प्रभाव डालेगा ? क्या इससे सर्वाङ्गीण उन्नति हो सकेगी ? क्या यह धन स्थायी रूप से उसके वंश में इसी प्रकार बना रहेगा ? क्या इस धन से कोई भीषण आपत्ति भी आ सकती है ? क्या इस धन से आचरण का निर्माण हो सकेगा ? यदि वास्तव में ऐसा होता तो धनी व्यक्ति अतृप्त की भाँति अपने को अपूर्ण न समझता।

थोड़ा विचार कर देखें तो यह धन हमारे विकास के लिये चुनौती बन कर खड़ा हुआ है। पुरुषार्थी के समस्त गुणों को यह धन थपथपा कर सुला देता है, जैसे एक माँ अपने बच्चे को सुला देती है। जिसे हमने अतुल-अपार-अक्षय समझा था वह पुरुषत्व को जीर्ण-शीर्ण बनाये दे रहा है। तीसरी पीढ़ी को तो यह इतना विकलाङ्ग बना देगा कि हाथ-पैर चलाने में भी कठिनाई का अनुभव होगा। आलसी और निरूद्यमी व्यक्ति इसी प्रकार बनता है कि उसे बिना किये ही सब कुछ मिलता रहे। हम शक्तिहीन हों और धन के बल पर निश्चिन्त

होकर सो जायँ तो क्या धन हमारी रक्षा कर सकेगा ? यह विवेकहीनता है कि क्षण भङ्गुर पदार्थ से हम अमरत्व की आशा करते हैं। तनिक दूसरी ओर अर्थात् ज्ञान की ओर भी निहारिये; उसका धन से विपरीत स्वभाव है जोकि व्यय करने पर बढ़ता है और सञ्चय करने पर क्षीण होता है–

अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं वियते तव भारति।
व्ययतो वृद्धि मायाति क्षयमायाति सञ्चयात्।।

ज्ञान की महिमा निराली है। इससे मनुष्य में विवेक आता है, अमृतत्व की प्राप्ति होती है, आपत्तियों को दूर भगाने की क्षमता आती है, सभी वन्धन टूट जाते हैं तथा संसार को सही रूप में भोगने की वुद्धि पैदा होती है। ज्ञानी संसार में भटकता नहीं। ज्ञान के द्वारा ही तो शुभकर्मों का सृजन होता है। सभी शङ्काओं का निवारण व समस्याओं का समाधान हो जाता है। पद-पद पर हमारा मार्गदर्शन ज्ञान के द्वारा स्वतः ही होता रहता है। ज्ञानी के पास चिन्तन शक्ति होती है जिससे चिन्ताएँ दूर भागती हैं। जीवन में एक गति बनी रहती है जिसे प्रगति कहते हैं। परमेश्वर ने हमें शक्ति दी है परन्तु ज्ञान के अभाव में हम उसका सदुपयोग नहीं कर पाते इस कारण दुःख भोगते रहते हैं। जीवन एक भूल-भुलैया बन जाता है और अपने आप से ही ठगे जाते हैं। ज्ञान के द्वारा एक अक्षय निधि हमें प्राप्त होती है और वह है उत्तम कर्मों की शृंखला। ऋषियों ने हमें सावधान किया है कि पार्थिव तत्वों की सत्ता भी पार्थिव ही होती है। पृथिवी की भी आयु सीमा है। एक दिन ऐसा भी आयेगा कि यह पृथिवी अदृश्य हो जायेगी, सव कुछ लुप्त हो जायेगा। हमारा शरीर भी पार्थिव है, यह भी एक दिन नहीं रहेगा, जो रहेगा उसे हमने जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। केवल इस में बैठा आत्मतत्व ही बचता है और दूसरी वस्तु होती है हमारी कर्मशृंखला। जीवन में जो कुछ भी किया है वह हमारे साथ लगा रहता है। जैसे किसी अपराधी के साथ जो धारा लग जाती है वह उसे दण्ड, भोगने को बाध्य करती है चाहे भाग कर वह कहीं भी चला जाय बच नहीं सकता। ठीक वैसे ही हमारे कर्मों की शृंखला हमें जकड़े रहती है चाहे हमारा जन्म कैसा भी हो, कहीं भी हो, कोई भी माता-पिता बने; हमें अपने किये कर्मों का फल अनिवार्य रूप से भोगना है। यदि हमने उत्तम कर्म किये हैं तो हम तर जाते हैं, वन्धनों में नहीं बँधते। इसके लिये आत्मा को शुभकर्मों से पुष्ट करना होगा। परमात्मा को पूषा कहा गया है क्योंकि वह सव का पोषण करता है। पूषा की एक विशेषता वेद में वतायी गयी है कि उसका चक्र रूकता नहीं, कोश रिक्त नहीं होता और उसकी शक्ति कम नहीं होती–

पूष्णश्चक्रं न रिष्यति न कोशोऽवपद्यते।
नोअस्य व्ययते पविः।। ऋ० ६.५४.३

मन्त्र में हमारे लिये एक उद्बोधन है कि हम भी पूषा बनें, अपने को पुष्ट करना सीखें। पुष्टि केवल शरीर की नहीं बल्कि मन-बुद्धि आत्मा, यहाँ तक कि इन्द्रियों की भी पुष्टि होती है। आत्मा को शुभकर्मों से पुष्ट करना होता है। मन को पवित्र विचारों से तथा बुद्धि को ज्ञान से पुष्ट किया जाता है। इन्द्रियाँ वे पुष्ट होती हैं जो आवश्यकता से अधिक न चरें। हमारा शरीर भोगों की अधिकता के कारण शिथिल न हो जाय। अकर्मण्यता की स्थिति आने पर हम अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक से नहीं कर पायेंगे। हम आत्मा के साथ जुड़ें और मन-बुद्धि आदि को आत्मा के कामों में नियुक्त करें। भोगों की दासता करते-करते हमारी इन्द्रियाँ इतनी कलुषित हो जाती हैं कि अच्छे-बुरे का ध्यान ही नहीं रहता, केवल आवश्यकता की पूर्ति करना हमारा लक्ष्य बन जाता है। इन्द्रियाँ आत्मा का अनुचर बनकर रहें तो शुभाशुभ का विवेक बना रहेगा। आयु को अधिक से अधिक बढ़ाओ केवल उत्तम कर्म करते हुए 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः'। यदि हमारी तिजोरी भरी हुई है परन्तु उसमें खोटे सिक्के हैं तो उनसे हम क्या काम ले सकते हैं ? आयु तो हमें दीर्घ मिली परन्तु कर्म खोटे किये तो उस आयु से क्या लाभ होगा ? यदि सञ्चय करना ही है तो उत्तम कर्मों का करें। पैसे हम खूब गिनते रहते हैं परन्तु कर्मों का कभी हिसाब नहीं लगाते। हम ऐसा कोश बनावें जो नष्ट न हो। शुभ कर्मों का संग्रह ही हमारा अक्षय कोश है। संसार का बड़े से बड़ा आधार आत्मा का सहारा नहीं बन सकता। यदि गिनते गिनते भूल हो जाय तो फिर से गिनना आरम्भ कर दो। अगला कदम सम्भाल कर रखो। ठोकरें खाते रहना ही जीवन की परिभाषा नहीं है। यदि हम कर्मक्षेत्र में सफल हो जाते हैं तो हम गर्व से कह सकते हैं कि हमने अक्षय कोष प्राप्त करा लिया। संसार में दो प्रकार का ही कोश महत्त्वपूर्ण है; पहला ज्ञान का तथा दूसरा शुभकर्मों का। ज्ञान का कोश अपूर्व है और उत्तम कर्मों का अक्षय कोश है। यदि ये दोनों ही उपलब्ध हैं तो हम भाग्यशाली हैं।

***

25. योगसाधन

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्यामहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः।। ऋ० ८.४४.२३

'हे प्रकाशस्वरूप, सर्वज्ञ परमेश्वर ! यदि मैं तुम हो जाऊँ और तुम मैं हो जाओ तो इस संसार में तुम्हारा आशीर्वाद सत्य हो जाये।'

मन्त्र में भक्त प्रभु से मिलने की प्रार्थना करता है, वह परमात्मा जैसा हो जाना चाहता है। जीव और परमेश्वर का निकटतम सम्बन्ध ही योग कहा जाता है। जीवन की सार्थकता यही है कि परमेश्वर का साक्षात्कार करें। भौतिक पदार्थ भी एकत्र हो जाते हैं परन्तु वह मेल होता है। स्तुति-प्रार्थना-उपासना का यही उद्देश्य है। उपासना तक पहुँचते-पहुँचते जीव अपने को भूल जाता है और प्रभु के गुणों को धारण करता है। आत्मा और परमात्मा को मिलाने का उपाय योगसाधन है। महर्षि पतञ्जलि का अमर ग्रन्थ योगदर्शन, जो षड्दर्शनों में से एक है, सदैव मानव जाति का मार्गदर्शन करता रहेगा। यदि हम इस ग्रन्थ का परिशीलन करें तो आभास होगा कि वे जन अभागे हैं और ऋषि ऋण को धारण किये हुए हैं जिन्होंने पातञ्जलयोगदर्शन का अवलोकन नहीं किया। हम असंख्य पुस्तकें अनायास ही पढ़ डालते हैं परन्तु आत्मकल्याण सम्बन्धी सिद्धान्तों से सम्पन्न, ऋषियों के ग्रन्थों को कदाचित् ही देख पाते हों। योगदर्शन जीवन की प्रयोगशाला है। हम जीवनभर समस्याओं से जूझते रहते हैं परन्तु उनका हल खोजने को अग्रसर नहीं हो पाते। यदि हमें थोड़ा भी विश्वास है तो ऋषिकृत ग्रन्थों के अध्ययन से हमारे जीवन की रूपरेखा ही बदल जायेगी। वेद में मानवीय उद्भावना की झलक मिलती है और उसका स्पष्टीकरण तथा सत्यापन अवान्तर ऋषियों ने किया है।

योग का उद्देश्य 'हेयं दुःखमनागतम्' सूत्र से स्पष्ट हो जाता है। जो दुःख अनागत है, अभी आया नहीं है, सम्भव है कि किसी भी समय आकर दबोच ले; वह हेय है, उसे योग की क्रियाओं के द्वारा दूर किया जा सकता है। अपने दैनिक कृत्यों में यदि हम योग की क्रियाओं को सम्मिलित कर लेते हैं तो दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। दुःखों का मूल पाँच क्लेशों को बताया गया है। अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इनसे कर्मों के संस्कार बनते हैं। क्लेशों के समाप्त होने पर ये संस्कार स्वतः

समाप्त हो जाते हैं। क्लेशरूपी मूल के कारण कर्मों का प्रभावरूपी संस्कार कर्म का फल भोगने को वाध्य करता है। वार-वार जन्म लेना, आयुभर भोगों को भोगना अर्थात् जाति, आयु और भोग यह ही कर्मों का परिणाम है। उसको अर्थात् कर्म को नियन्त्रित करने से ही दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। व्यावहारिक जीवन में भूल यह होती है कि हम नश्वर को अमर, दुःख को सुख, अनित्य को नित्य, शरीर को आत्मा तया अपवित्र को पवित्र मान वैठते हैं। यह विपरीत ज्ञान ही वन्धन का कारण वनता है। वास्तविकता को जानने के लिये एक उपाय है–

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षेय ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।

योग० साधनपादसूत्र २८

योग के आठ अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय (विनाश) हो जाता है, ज्ञान की दीप्ति (प्रकाश) वढ़ती जाती है। क्लेशों की निवृत्ति होकर पूर्ण विवेक हो जाता है। चित्त वृत्तियों को नियन्त्रित करने का भी यही उद्देश्य है जिससे कि हम निर्विघ्न आत्मकल्याण की ओर अग्रसर हो सकें। यदि हम चिन्तन करें या ध्यान में वैठें और मन पर वाह्य प्रभाव पड़ रहा हो तो मन पूरी तरह किसी कार्य में न लगेगा। विवेक होने पर भोगों की भीषणता का पता चलता है जिसे भर्तृ हरि ने स्पष्ट किया है–

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

भोग नहीं भोगे गये हम ही भोगे गये, तप नहीं तपा गया हम ही तपे गये, समय नहीं वीता हम ही वीत गये तथा तृष्णा जीर्ण नहीं हुई अपितु हम ही जीर्ण हो गये। भोगों में लिप्त होने पर वस्तुस्थिति यही होती है किन्तु हम ठीक से जान नहीं पाते। विचित्रता यह है कि हम जितना अधिक भोगों को भोगते हैं उतनी ही कामना वढ़ती जाती है। भोगों से कामना शान्त नहीं होती जैसे अग्नि में घी आदि हवि डालने से वह प्रचण्ड हो जाती है वैसे ही इच्छा तीव्र होती जाती है–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।

अति कहीं भी लाभप्रद नहीं है। यदि वास्तविक सुख भोगना है तो भोगों से विरत होना ही पड़ेगा। इस विषय में मध्यम मार्ग का अवलम्वन श्रेयस्कर होगा जिसे योगदर्शन में क्रियायोग कहा गया है। तप-स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है–

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः ।। साधन०-१

अपने कार्यों को सम्पन्न करते समय उनको सकुशल सिद्ध कर लेना, समस्त बाधाओं को दूर करना, कठिनाईयों को सहन करना, कभी भी स्खलित न होना तप है। जैसे कुशल सारथि चञ्चल घोड़ों को ठीक कर लेता है और फिर रथ में निश्चिन्त होकर यात्रा करता है। कष्टों को सहन करके भी कार्यसिद्धि में तत्पर रहना तप है। शरीर प्राण, इन्द्रियाँ और मन को उचित रीति तथा अभ्यास से वश में करने को तप कहते हैं; जिससे शीत-ग्रीष्म, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों को सहन करके निर्विकार होकर अपनी कार्यसिद्धि में प्रवृत्त होते हैं। इस सम्बन्ध में गीता में बताया गया है कि जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कर्मों में, सोने-जागने में नियमित रहता है, उसका योग दुःखनाशक होता है। नियमित आहार-विहार अर्थात् मिताहार उसे कहते हैं कि स्निग्ध-मीठा-प्रिय आहार भूख के परिमाण से चौथायी भाग कम करके खाना इन्द्रियों को नहीं अपितु ईश्वर की प्रीति के लिये किया जाता है–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा।। गीता ६-१७
सुस्निग्ध मधुराहारश्चतुर्थांश विवर्जितः।
भुज्यते प्रभुसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।।

यदि हमें चार रोटियों की भूख है तो तीन रोटियाँ खा कर प्रसन्न रहना मिताहार है। नित्य सत्कर्म करते रहना, अत्यधिक परिश्रम न करना और आलसी या निकम्मा भी न होना युक्त कर्मचेष्टा कहलाती है। रात्रि में उचित निद्रा लेना, न अधिक सोना न जागरण करना युक्त स्वप्नाववोध कहलाता है। वाणी को संयम में रखना, अनावश्यक न बोलना वाणी का तप है। मन को कावू में रखना, वासनाओं में न बहने देना तथा कुमार्ग में न प्रवृत्त होने देना मन का तप है। आर्षग्रन्थों का परिशीलन, आत्मचिन्तन आदि स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। अपने को ईश्वराधीन कर देना ही प्रणिधान है। आत्मा का अधिष्ठान परमात्मा है, अतः उसका सदैव स्मरण करना चाहिये। ऐसा प्रत्येक कार्य जो हमारे आत्मा से जुड़ जाता है, हमारे लिये मार्ग प्रशस्त करना है, फिर हम सदैव अच्छे कर्म ही करते हैं। योग की प्रक्रिया को पुष्ट करने हेतु श्रुति भी हमें प्रेरणा करती है–

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः।।
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमयो मनः।। अथर्व० १०.२.२६, २७

'मस्तिष्क से ऊपर रहने वाला पवित्र एवं अचल योगी अपने हृदय और मस्तिष्क को जोड़कर सिर से ऊपर प्रेरित करता है। निश्चल योगी का वह सिर, शीर्षस्थानीय अभ्यास, इकट्ठा किया हुआ देव कोश है। उस सिर की प्राण सब तरह रक्षा करता है; भोजन और मन भी रक्षा करता है।' उक्त मन्त्रों में देव कोश संग्रह की प्रेरणा की गयी है। एक साधक की यही स्थिति होती है, उसका मन बुद्धि के साथ मिला हुआ होता है। प्राणायाम की शक्ति से वह सामान्य स्थिति से ऊपर उठ जाता है। इसी स्थिति को योगदर्शन में 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' व 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इन दो सूत्रों के द्वारा स्पष्ट किया गया है। बुद्धि की ऋतम्भरा संज्ञा हो जाती है। इस ऋतम्भरा बुद्धि के द्वारा साधक अथर्वा हो जाता है। तभी तो देव कोश का संग्रह हो पाता है और मानसिक तथा बौद्धिक विकारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। दैवी सम्पत् प्राप्त होने पर आसुरी वृत्तियाँ स्वतः भाग जाती हैं। ऐसा नहीं कि साधक अन्य कार्यों को नहीं कर पाता अपितु दूसरों की अपेक्षा कम समय में सुन्दर तरीके से सुधार कर कार्यों को करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। अन्य साधारण भोगी जन उसकी शक्ति में आश्चर्य प्रकट करते हैं। श्रीकृष्ण में योग बल था और देव कोश संचित किया हुआ था। जो योग की शक्ति को नहीं समझ पाते ऐसे लोग उन्हें भगवान समझते हैं। यही शक्ति हनुमान में थी। अध्यवसाय के बल पर साधारण से साधारण व्यक्ति महापुरुष बन सकता है। विशेष कर छात्रों के लिये क्रियात्मक योग अत्यन्त उपयोगी है। चित्तवृत्तियों को वश में करके सारी शक्ति केन्द्रित हो जाती है। यही योग का क्रियात्मक रूप है। जिस शक्ति को हम व्यर्थ के कामों में बर्बाद कर देते हैं उसी शक्ति के द्वारा ईश्वर को भी जान सकते हैं–

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते।।

परमात्मा के द्वारा दी गयी शक्ति को भोगों से बचा कर अविनाशी तत्त्व को भी जान सकते हैं। भोगों में शक्ति क्षीण हो जाती है और चिन्तन-मनन आदि से वह शक्ति बढ़ती है। अतः जीवन को योगमय बनाकर अमूल्य-अविनाशी निधि देव कोश का संग्रह करें।

26. आदर्श परिवार

चारों आश्रमों में द्वितीय अर्थात् गृहस्थाश्रम अत्यन्त दायित्वपूर्ण है। मानवजाति की परम्परा गृहस्थाश्रम के द्वारा ही सुरक्षित है। विवाह करके पति-पत्नी इस आश्रम की नींव डालते हैं। यह प्रारूप ही परिवार कहा जाता है। यदि पूर्ण लक्ष्य की सिद्धि हो जाती है तो उसे आदर्श परिवार कहते हैं। सामान्यतः परिवार शब्द से ही पूर्णता का आभास होता है। सभी आवश्यकताएँ आसानी से पूर्ण हो सकें, घर का वातावरण सुखद हो, सभी सदस्य कर्त्तव्यपरायण हों तथा अन्य परिवारों के लिये उसकी विशेष भूमिका हो; ऐसा परिवार आदर्श कहा जा सकता है। एक ऋचा में ऐसे घर की कामना की गयी है जो सुन्दर हो, गौएँ दूध देती हों, बछड़े-बछड़ी पुष्ट हों, माता का सम्मान होता हो, माता अपने कर्त्तव्य को ठीक प्रकार से वहन करती हो तथा सब के शरीर सप्तधातुओं से पुष्ट हों–

तदित्सधस्थमभि चारू दीधय गावो यच्छासन् वहतुं न धेनवः।
माता यन्मन्तुर्यूथस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जनः।।
ऋ० १०.३२.४

माता का यही आदर्श है कि वह श्रेष्ठ सन्तान को जन्म दे और परिवार को अनुशासन में रखे। परिवार की अच्छाई का सर्वप्रथम लक्षण स्वास्थ्य है, सभी स्वस्थ रहें। माता सन्तान में गुणों का सृजन करती है तथा परिवार को व्यवस्थित रखती है। सन्तान माता से बहुत कुछ सीखती है। आदर्श माता ही आदर्श परिवार का निर्माण कर सकती है। माता अनुशासन का प्रतीक है। ऐश्वर्यों में गाय को स्थान दिया गया है। गौओं से परिवार की मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। वास्तव में गाय ऐश्वर्य का स्रोत है और श्रेष्ठ परिवार की पहचान भी है। एक अन्य ऋचा प्रस्तुत है–

स्व आदमे सुदुघा यस्य धेनुः स्वधां पीपाय सुभ्वन्नमत्ति।
सो अपां नपादूर्जयन्नप्स्वन्तर् वसुदेयाय विधते विभाति।। ऋ० २.३५.७

अपने घर में दुधारू गाय, कामनाओं को पूर्ण करने वाली वाणी, पर्याप्त धनान्न की व्यवस्था, भोजन-पानी से तृप्ति, कर्म से शक्ति अर्थात् पुरुषार्थ व कार्यक्षमता हो। अन्य सम्बन्धियों के लिये भी अच्छे-अच्छे कार्य करते हों, उत्तम व्यवहार के द्वारा सुख प्राप्त करें। ये बातें सभी परिवारों में नहीं होती हैं। जिस परिवार में सभी ऐश्वर्य सुलभ हों वह आदर्श परिवार होता है।

दूसरी बात विचारधारा की है। सुमति और सामञ्जस्य भी ऐश्वर्य हैं। इसमें यह विचार किया जाता है कि परिवार कितना मिलकर रहता है; इसे वैचारिक उन्नति कहते हैं। छोटे अपने बड़ों का सम्मान करते हों। पति-पत्नी एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हों तथा भाई-बहिन में प्रेम हो। सहनशीलता-त्याग-स्नेह-श्रद्धा आदि ऐसे गुण हैं जिनसे परिवार का स्वरूप अच्छा बना रहता है। निम्नलिखित मन्त्रों में इन बातों पर ध्यान दिया गया है–

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

अथर्व० का० ३ सूक्त ३० मंत्र २-३

'पुत्र पिता के व्रत के अनुकूल हो, माता के साथ प्रीतियुक्त मन वाला हो। पत्नी अपने पति से मीठी वाणी बोले। भाई भाई से, बहिन बहिन से द्वेष न करे अर्थात् भाई-बहिन परस्पर प्रेमपूर्वक व्यवहार करें। सभी सदस्य मिलकर चलने वाले, समान व्रत वाले होकर मंगलमयी वाणी बोलें।'

घर में पूर्ण सम्पन्नता होने पर भी यदि मन मिले हुए न हों तो विचार नहीं मिल पाते और सदा टकराव होता रहता है। कोई भी योजना ठीक से नहीं बन पाती। सुख के साधन रहते हुए भी दुःख भोगते हैं। स्वादिष्ट भोजन तैयार है, परन्तु खाने वाले झगड़े में लगे हुए हैं। सभी अपनी मनमानी करें तो किसी भी विषय पर निर्णय नहीं लिया जा सकता। वैदिक मान्यता तो आदर्श स्थापित करती है। अच्छाई का परीक्षण निम्नलिखित मन्त्रों में किया गया है–

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहु।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः।।
उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयोः शंयोः।।

यजुः अध्याय ३ मं० ४२, ४३

'जिन परिवारों में आकर वह मनुष्य परदेश गया हुआ उन परिवारों का स्मरण करता है और जिनमें बहुत प्रीति होती है उन गृहस्थों को हम लोग पुकारते हैं, प्रशंसा करते हैं तथा अपने समीप बुलाते हैं। वे गृहस्थ लोग हमें जानने वाले हों। हम उनको जानें और

वे हमें जानें। अपने घरों में गाय आदि उत्तम पशु रहें, बकरी-भेड़ आदि भी रहें। अन्न के भण्डार भरे रहें। मैं तुम्हारी रक्षा व शान्ति के लिये तुम्हारे पास आता हूँ। सबका कल्याण हो, सबको सुख मिले और सुखी होकर दूसरों को भी सुख देवें।'

यह आदर्श परिवार की झाँकी प्रस्तुत की गयी है। जिनसे सब लोग परिचय करने के इच्छुक हों, जिन में समर्पण भाव तथा सामञ्जस्य हो, घी-दूध-अन्न प्रचुर मात्रा में हो और पड़ोसी के काम भी आते हों, सब के हितचिन्तक हों ऐसे सदस्य श्रेष्ठ होते हैं और वह आदर्श परिवार होता है। मनु जी कहते हैं कि जिस घर में पत्नी से पति तथा पति से पत्नी परस्पर सन्तुष्ट रहते हैं, उनका निश्चय ही कल्याण होता है–

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।

परिवार के सुख का सार सन्तोष है। पति-पत्नी को सर्वप्रथम सन्तुष्ट होना चाहिये। केवल सामान बढ़ाते जाना ही उत्तमता की पहचान नहीं है, अपितु जो भी उपस्थित है उतने से ही काम चलाना प्रशंसा का कार्य है। आदर्श परिवार की एक और भी पहचान है कि उसमें समस्याएँ जन्म नहीं लेती हैं बल्कि उस परिवार के द्वारा कितने ही लोगों की समस्याओं का समाधान किया जाता है। ऐसे लोग अपने गुणों के द्वारा संसार के अभाव की पूर्ति कर देते हैं।

❋❋❋

27. वैदिक समाज

परिवारों को मिलाकर समाज कहा जाता है अतः वैदिक आदर्शों वाले परिवारों की झलक समाज में होनी स्वाभाविक है। व्युत्पत्ति के अनुसार 'समम् अजन्ति जनाः यस्मिन् सः समाजः' जिसमें समान रूप आचरण करते हैं वह समाज है। यद्यपि इसमें अपवाद होना सम्भव है, परन्तु समाज की परिभाषा का आधार समान रूप से रहन-सहन-व्यवहार आदि ही कहा जा सकता है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है वेद मानव जाति के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है और यदि मानव जाति वेद से उपकृत हो जाती है तो सर्वत्र आदर्श ही आदर्श दिखाई देने लगता है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि ऐसे समाज की स्थापना करें जिसमें वैदिक मान्यताओं का परिपालन किया जाता हो। इस सम्बन्ध में वेद में कुछ बातें मिलती हैं जिनके आधार पर सुदृढ़ समाज का निर्माण किया जा सकता है। सर्वप्रथम एक मूलभूत भावना से ओत-प्रोत होना आवश्यक है जिसे पारस्परिक प्रेम कहा जा सकता है–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये।। अथर्व० १९.६२.१

वैदिक समाज को चार वर्णों में विभाजित किया गया है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये चार वर्ण कर्म के आधार पर बनते हैं। मनु जी भी इस का समर्थन करते हैं। उक्त मन्त्र में संकेत कि चारों वर्ण एक-दूसरे के प्रिय बने रहें जो भी देखे उसके भी सब प्रिय हों। वैदिक समाज का यह प्रथम घटक है। संगठित समाज की यही कसौटी है। सुखपूर्वक रहने के लिये यह आवश्यक है कि सबकी संकल्पशक्ति विचारधारा समान हो, सबके हृदय स्पष्ट रूप से एक-दूसरे को स्वीकार करें अर्थात् हृदयों में समानता हो, सबके मन समान हों जिससे सभी सुशोभित होवें–

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। ऋ० १०.१९१.४

दूसरी बात है सामाजिक शक्ति की। सभी वर्णों में समान रूप से तेज और क्रान्ति की बात कही गयी है। व्यवहार में प्रायः ऐसा माना जाता है कि ब्राह्मण ही तेज का अधिकारी है परन्तु वेद में शूद्र को भी तेजस्वी होने की बात कही गयी है। एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि ब्राह्मणों में कान्ति-तेज धारण करो, क्षत्रियों में कान्ति कर, वैश्यों में और शूद्रों में कान्ति कर, मुझ में तेज से युक्त कान्ति धारण कर–

रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचा रूचम्।। यजुः १८-४८

उक्त मन्त्र में 'मयि धेहि रूचा रूचम्' का भाव है कि मैं सबकी कान्ति से कान्तिमान होऊँ। तेज या कान्ति की प्रेरणा मनुष्यमात्र के लिये है। आधुनिक समाज में जो विकृतियाँ दिखाई देती हैं वेद विद्या से अपरिचित होने के कारण यह सब कुछ हुआ है। कोई भी व्यक्ति स्वार्थ के कारण केवल अपना भला चाहेगा परन्तु परमेश्वर की व्यवस्था सबके लिये समान है। यदि हमें वैदिक समाज बनाना है तो सबको तेजस्वी होना आवश्यक है। निस्तेज होना दुर्बलता की पहचान है और कमजोर का कोई साथी नहीं होता। अन्याय-अत्याचार-बलप्रयोग तेजस्वी के साथ नहीं होगा। अग्नि में तेज होता है तो उससे दूर रहते हैं और राख होने पर उस पर पैर रख कर चलते हैं। बलहीन का जीवन अभिशाप से भरा होता है, उसे अपने जीवन में सुख के क्षण बहुत कम देखने को मिलते हैं। कान्ति या तेज से सशक्त समाज बनेगा जिसमें सभी लोग अपनी रक्षा अपने आप कर सकेंगे।

तीसरी बात है सामाजिकता की भावना की अनुभूति। सब में यह भावना पूर्णतः भरी हुई हो कि उन्हें एक दूसरे की आवश्यकता है, वे मिलकर किसी भी कार्य को करने के इच्छुक हैं। इस प्रकार की भावना को एक मन्त्र में दर्शाया गया है–

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्धध्वं बहवः सनीडाः।
दधिक्रामग्निं मुषसं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे निह्वये वः।।

ऋ० १०.१०१.१

'हे मित्रो ! आप समान चित्तवाले होकर जागो, ज्ञान सम्पन्न होवो। आत्मावाले आप लोगों को ज्ञान-स्नेह आदि के लिये मैं बुलाता हूँ कि आप लोग अनेक मिलकर एक आश्रय या स्थान में रहते हुए यज्ञाग्नि, समान ज्ञान, प्रकाशक प्रभु को भाँति-भाँति प्रकाशित करो और जगत् के धारक अग्नि की भाँति प्रकाशस्वरूप, उषा की भाँति कान्तियुक्त परमात्मा की वन्दना करो।'

उक्त मन्त्र में 'समग्निमिन्धध्वं बहवः सनीडाः' का भाव है कि अलग-अलग बहुत से घरों में निवास करने वाले मिलकर अग्नि प्रज्वलित करो। ज्ञान वृद्धि की योजना को मिलकर सफल बनाओ। यज्ञ, प्रार्थना, उपासना सम्मिलित रूप से करें तो सामाजिक भावना परिपक्व होती है। सबको सखा कहा है अर्थात् कोई ऊँचा-नीचा नहीं है, सब बराबर हैं। दधिक्राम का भाव है धारण करने की शक्ति, विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने का सामर्थ्य। उन्नत समाज की पहचान है कि उसमें विरोध नहीं रहता और भारी-से-भारी काम को अनायास ही कर लेते हैं। कठिनाई आने पर मिलकर उसका सामना करते हैं। कभी-कभी दैवी प्रकोपवश सूखा, बाढ़ आदि जैसी आपत्ति प्रस्तुत हो जाती है तो सामाजिक जन अपनी योग्यता से उस स्थिति को पार कर लेते हैं। विरोध की दुर्भावना ही समाज का सबसे बड़ा अकाल है। इस अकाल का कोई उपचार नहीं, अतः नाममात्र का भी विरोध न हो।

समान विचार बनाने के लिये सहयोग अपेक्षित है। अधिकतर ऐसे कार्य हों जिनमें जन सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। सबके पानी पीने की एकत्र व्यवस्था हो, खान-पान मिलकर करते हों। सब इस प्रकार रहें जैसे किसी बन्धन में बँधे हुए हों। एकत्र होकर अग्नि की पूजा करें। यज्ञ सबका केन्द्र है जैसे नाभि में अरे जुड़े हुए होते हैं वैसे ही सब यज्ञरूपी नाभि में केन्द्रित रहें। समान मन वाले, समान गति वाले हों सबको परमात्मा ने एक बन्धन में बाँध दिया है। देवता जैसे अमृत की रक्षा करते हैं वैसे सायं प्रातः सब में सुमनता हो, प्रीति हो, समनस्कता हो—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।
सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु।। अथर्व० ३.३०.६,७

महर्षि वाल्मीकि ने अयोध्या के निवासियों का वर्णन किया है जो वेदानुकूल है। अयोध्या में कोई भी कामी कृपण, कठोर, मूर्ख, नास्तिक नहीं है। सब नर नारी धर्म का पालन करते हैं, वे नियमित जीवन वाले, प्रसन्न रहने वाले तथा शील-स्वभाव से महर्षियों की भाँति पवित्र आचरण वाले हैं। कोई भी ऐसा नहीं जो यज्ञ न करता हो। वहाँ कोई तुच्छ विचारों वाला नहीं, तस्कर नहीं, आचरणहीन नहीं और कोई भी वर्णसंकर नहीं है। विशेष कर ब्राह्मण अपने कर्त्तव्यों के पालन में लगे हुए हैं, जितेन्द्रिय हैं, दानी तथा अध्ययनशील हैं, अनुशासनबद्ध हैं। चारों वर्णों में विद्वान् व अतिथि की पूजा करने वाले हैं, कृतज्ञ हैं अर्थात् दूसरे के द्वारा किये गये उपकार को याद रखते हैं। सभी उदार-दाता-मधुरभाषी, शूर तथा पराक्रम युक्त हैं—

कामी वा न कदर्यो वा नृंशसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां ना विद्वान् न च नास्तिकः।।
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः।।
नानाहितग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः।।
स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।।
वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथि पूजकाः।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रम संयुताः।।
वा०रामा० बाल काण्ड ६-८.६.१२, १३, १७

28. आर्य

वेदविद्या का तिरस्कार करके हम इतने भटक गये कि अपने को भी भूल बैठे। निश्चित रूप से हम किसी को सन्तुष्ट नहीं कर सकते कि हम कौन हैं, क्या हैं ? हमारा प्रत्येक तथ्य शास्त्रों से प्रमाणित होता है। प्राचीन काल से हमारे सभी ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध हैं। आरम्भ से ही हमारी भाषा संस्कृत रही है। कोई भी शब्द, यदि वह संस्कृत से सिद्ध होता है तो वह हमारा है अन्यथा विकृति है। पात्र-वस्त्र-ग्रन्थ-औषधि-आयुर्वेद-संगीत-नाट्य-नृत्य-गायन-वादन-भाषण-लेखन-प्रवचन आदि शब्द संस्कृत के हैं जो उच्चारण करने में भी मनोहारी प्रतीत होते हैं। इस्लामी शासन की दासता ने हमें कुचल कर बलात् हमसे कहलाया कि हम हिन्दू हैं। यह 'हिन्दू' शब्द चौंका देने वाला है क्योंकि संस्कृत भाषा के लिये यह अछूत है, संस्कृत में इस शब्द का लय कदापि सम्भव नहीं। जिनको हिन्दू कहने में गर्व है, वे प्रमाण प्रस्तुत करें कि वे किसकी सन्तान हैं। यदि राम-कृष्ण के वंशज हैं तो राम-कृष्ण तो आर्य थे। इस सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत देखे जा सकते हैं। वास्तव में हिन्दू नामधारी इतना भी नहीं जानते कि वे किस की सन्तान हैं। हम सब ऋषियों की सन्तान हैं। भ्रान्तिवश उर्दू-फारसी के शब्दों को हम अपनी भाषा के ही मानने लगे हैं; क्योंकि शत्रुओं ने हमारे सब प्रमाण नष्ट कर दिये। किसी बच्चे के माता-पिता को समाप्त करके दस्यु-चोर-डाकू-हत्यारे के द्वारा उसका पालन पोषण कराया जाय तो बड़ा होकर वह भी गर्व से कहेगा "मैं बड़े प्रसिद्ध दस्यु की सन्तान हूँ।" ठीक ऐसा ही हमारे साथ हुआ। हम कभी भी मानने को तैयार नहीं कि हम वैदिक ऋषि परम्परा के वंशज हैं क्योंकि हमारे जन्म से पहले ही हमारी संस्कृति व धर्म पूर्णतः नष्ट कर दिया गया। हम कभी भी ऐसे शब्दों को स्वीकार नहीं कर सकते जिनसे हमारा अस्तित्व ही समाप्त हो जाता हो। हम इस समय जाग गये हैं तो सोते हुए का नाटक करने से क्या लाभ है ? हमारे धर्म व संस्कृति का पता देने वाला सबसे पहला ग्रन्थ मनुस्मृति है जिससे हम कुछ भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। मनुस्मृति में एक श्लोक आता है जिसका अर्थ है–

'हिमालय और विन्ध्यपर्वतों तथा पूर्वी एवं पश्चिमी समुद्रों से घिरे देश का नाम आर्यावर्त है–

आ समुद्रात् तु वै पूर्वादासमुद्रात् तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः।। २ = २२

इस श्लोक में हमारे देश का नाम बताया गया है। अब बिना किसी सन्देह के कहेंगे कि हमारे देश का नाम आर्यावर्त है। आर्य जिस देश में निवास करते हैं उसे आर्यावर्त कहते

हैं। ऋषियों ने इस देश का नामकरण किया है। हम इस देश के मूल निवासी हैं। यदि हम से कोई पूछे तो हमें गर्व के साथ कहना चाहिये कि हम आर्य हैं। अज्ञानवश कुछ लोग आर्य को विदेशी भी बताते हैं। यह विरोधियों की एक चाल थी, वे हमारी मूल संस्कृति को संसार से समाप्त कर देना चाहते थे। हम यदि उन्हें अपना मार्गदर्शक मान लेते हैं तो बहुत बड़ी भूल करते हैं। आर्य सर्वश्रेष्ठ को कहते हैं, यदि वही भटक जाय तो कौन सन्मार्ग पर लायेगा ? वास्तव में आर्य भटकने के लिये नहीं होता। हमारा आधार हमारा साहित्य है। वेद-शास्त्र-स्मृतियाँ-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-सूत्रग्रन्थ; ये हमारे रक्षक हैं। जब हम इन ग्रन्थों को अपने साथ नहीं रखेंगे तब तक ठोकरें खाते रहेंगे।

संस्कृत शब्दकोश के अनुसार 'प्रतिष्ठित-उत्तम-सर्वोत्कृष्ट अपने धर्म और शास्त्र को मानने वाला व्यक्ति' इतने अर्थ आर्य के हैं। आर्य किसी वर्ग विशेष का नाम न होकर श्रेष्ठता का द्योतक है। वेद परमेश्वर की वाणी है और उसका पालन करने वाला व्यक्ति आर्य है। कोई ऐसा अभागा भी होगा जो श्रेष्ठ न बनना चाहता हो ? इतिहास के माध्यम से आर्य को निकृष्ट एवं हीन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है; निश्चय ही इतिहास के लिखने-लिखाने वाले वेद विरुद्ध आचरण करते थे। वे स्वयं को संयमित न कर सके तो आर्यत्व पर प्रहार किया। वेद का अवलोकन करने से विदित होता है परमेश्वर के दान से आर्य ही लाभान्वित हो सकते हैं। यह पृथ्वी आर्य के लिये है, आर्य ही इस पर शान्तिपूर्वक रह सकता है। दस्यु-राक्षस-यवन-म्लेच्छ-पिशाच तो सबको कष्ट देने वाले होते हैं। यदि हम श्रेष्ठ हैं, संसार से सुख प्राप्त कर सकते हैं। एक ऋचा में संकेत है कि परमेश्वर ने यह भूमि आर्य (श्रेष्ठ) के लिये दी है। वह प्रभु दानशील एवं याजक को वृद्धि प्रदान करता है, जल देता है। देवता अर्थात् विद्वान्‌जन उसके नियमों का पालन करते हैं, वेदोक्त आचरण-व्यवहार करते हैं–

अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनुकेतुमायन्।। ऋ० ४.२६.२

यह स्वाभाविक है कि जहाँ सज्जन पुरुष निवास करेंगे वहाँ शान्ति की स्थापना होगी। वेद में अन्यत्र ऐसा संकेत मिलता है कि दुष्टों का दमन करो, आर्यों की रक्षा करो। इस संसार को शिष्टों की, आर्यों की आवश्यकता है; संसार ऐसे लोगों से ही चलता है। एक मन्त्र आर्य का एक विशेष गुण बताया गया है कि आर्य मननशील होता है इस लिये उसे मनुष कहा गया है। सामान्य गृहस्थों से एक बात कही गयी है कि वे हल से कृषि कर्म करके यव (जौ) का वपन करें (बोयें), प्रचुर अन्न का दोहन करें अर्थात् खून अन्न का उत्पादन

करें, दस्यु (दुष्ट-असुर-पिशाच) को वज्र (तीक्ष्ण शस्त्र) से नष्ट कर दें और मननशील आर्य के लिये ज्योति (प्रकाश) की व्यवस्था करें–

यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभिदस्युं बकुरेण धमन्तोरू ज्योतिश्चक्रथुरार्याय।। ऋ० १.११७.२१

मन्त्र से लक्षित होता है कि श्रेष्ठ पुरुष को समाज में व्यवस्थित किया जाय, उसकी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण की जायें तथा कार्य में विघ्न डालने वालों को समाप्त कर दिया जाय। संसार की गतिविधि सुचारू रूप से न चलने देना ही दस्युओं का व्यापार है। एक अन्य ऋचा में ठीक ऐसा ही भाव है। राजा से प्रार्थना की गयी है कि वह तेज बल धारण करे और मकड़ी की भाँति दुष्कर्मों का जाल फैलाकर अन्धकार फैलाने वाले दुष्टों का भेदन करे, विपरीत आचरण करने वालों को उचित मार्ग पर लाये तथा अन्धकार को दूर कर आर्य के लिये प्रकाश के आवरण को दूर कर देवे–

धिष्वा शवः शूर येन वृत्रमवभिनद् दानुमौर्णवाभम्।
अपावृणोर्ज्योतिरार्याय निसव्यतः सादि दस्युरिन्द्रः।। ऋ० २.११.१८

राजा का भी कर्त्तव्य है कि वह आर्य की रक्षा करे। कुछ मन्दबुद्धि जन अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं कि सब मनुष्य समान हैं किसी को नहीं सताना चाहिये। वेदोक्त तथ्य को सब लोग नहीं समझ पाते। वैदिक व्यवस्था शिरोधार्य है। अव्यवस्थित रूप से कोई संस्था नहीं चलती, चाहे समाज हो या राज्य। यह वेद का आदेश है और ऐसा ही करने में कल्याण है। यदि सामाजिक स्तर पर यह कार्य न हो पाता हो तो राजा को करना चाहिये, यह उसका कर्त्तव्य है। सज्जनों को कष्ट दिया जायेगा तो उनसे समाज अथवा राष्ट्र को जो उपलब्धि होनी थी वह नहीं होगी। आर्य पुरुषों की कभी भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये और दुष्टों को खुला न छोड़ा जाय यही वेद का उपदेश है। एक ऋचा में तो सभी को आर्य बनाने की बात कही गयी है। सज्जनों के मार्ग में काँटे बिछाने वाले सर्वत्र विद्यमान हैं, जब तक उनका उन्मूलन नहीं किया जायेगा तब तक आर्यत्व के प्रसार की बात तो अलग रही जितने हैं उनकी भी रक्षा सम्भव नहीं अतः दुष्टदमन का कार्य जारी रहना चाहिये। ऋचा में प्रार्थना की गयी है कि ऐश्वर्य सम्पन्न (इन्द्र) को बढ़ाते हुए, उसे गति प्रदान करते हुए और दुष्टों का हनन करते हुए सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाओ। सब आर्य हो जायेंगे तो ऐश्वर्य बढ़ेगा और उन्नतिशील कार्यक्रमों की वृद्धि होगी–

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः।। ऋ० ९.६३.५

❋❋❋

29. पुरोहित

पुरोहित शब्द के उच्चारण से ही ऐसे व्यक्ति का आभास होता है जिसे आगे रखा जाता हो, पुरः = सामने, हितः = रखा गया। वेदशास्त्रों में पुरोहित का वर्णन मिलता है परन्तु आज की कल्पना वाला पुरोहित नहीं प्रतीत होता। ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण में तो पूरा एक अध्याय ही पुरोहित का अध्ययन प्रस्तुत करता है। यजुर्वेद में संक्षेप में पुरोहित के दायित्व को बताया गया है, सारी बातें उसमें ही आ जाती हैं। सूक्ति का शाब्दिक अर्थ तो केवल इतना है 'हम पुरोहित लोग राष्ट्र में जागरूक रहें, जागते रहें'–

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।। यजुः ६.२३

यजुर्वेद की इस सूक्ति से पता चलता है कि पुरोहित का राष्ट्र के प्रति बहुत बड़ा कर्त्तव्य है। प्रश्न यह है कि आज के वातावरण में पुरोहित का क्या स्थान है ? राष्ट्र की रक्षा के निमित्त तो बहुत से नेता, अधिकारी, कर्मचारी कार्यरत हैं। राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री तथा प्रत्येक विभाग के सचिव राष्ट्र के भार को सम्भाले हुए हैं। सुरक्षा के लिये सैन्यशक्ति का उपयोग किया जाता है। पुरोहित को राष्ट्र के किसी भी पद पर आसीन नहीं किया जाता तो पुरोहित जाग कर भी क्या करेगा ? अतः वर्तमान में यह जागने वाली बात हास्यास्पद प्रतीत होती है।

यहाँ विचारणीय विषय यह है कि वेदोक्त पुरोहित केवल यज्ञ-संस्कार कराने वाला नहीं अपितु वह राष्ट्र का उन्नायक है। व्यवसाय के बन्धन के कारण चाटुकारिता करने वाला न होकर एक विशेष व्यक्तित्व वाला, प्रतिभावान् तथा वर्चस्वी हे। देवताओं के पुरोहित बृहस्पति कहे जाते हैं क्योंकि वे विद्वानों के भी गुरु हैं। पुरोहित सबका गुरु होता है तभी तो उसे बृहस्पति कहा जाता है–

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्।
सप्तास्य स्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधात्तमांसि।। ऋ० ४.५०.४

'बृहस्पति सर्वप्रथम प्रसिद्ध हुआ, वह सबसे बड़ा है। परम व्योम में स्थित है अर्थात् सर्वोपरि विराजमान है, सात मुखों वाला अर्थात् सामान्य विद्वानों की अपेक्षा सातगुनी वाक्शक्ति वाला, अपने शब्द से सूर्य की भाँति अज्ञानान्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाला है।' यह वेदोक्त पुरोहित का परिचय है। ऋग्वेद में पुरोहित को बहुत मान दिया गया है। वह उत्तम कर्मों का अनुष्ठान करने वाला, अग्नि की भाँति तेजस्वी है। ऐसा पुरोहित घर-घर में पवित्र यज्ञ से सबको चेताता है, यज्ञमय कर्मों के द्वारा सबको चेतावनी देता है–

स सुक्रतुः पुरोहितो दमे दमेऽग्निर्यज्ञस्याध्वरस्य, चेतति क्रत्वा यज्ञस्य चेतति।।
ऋ० १.१२८.४

यज्ञ कराना तो पुरोहित का मुख्य कर्म है और सबसे अधिक महत्त्व का कार्य यह है कि वह अपने जीवन को यज्ञमय बनाता है, सबको शुभ कर्मों की ओर अग्रसारित करता है। उपदेश देना भी पुरोहित का काम है; यदि वह अपने आचरण के द्वारा दूसरों को शिक्षा देता है तो यह सर्वोत्तम विधि है क्योंकि आचरण के द्वारा दिया गया उपदेश लोगों के हृदयों में स्थान बना लेता है।

पुरोहित एक सच्चा राष्ट्रभक्त है क्योंकि वह राष्ट्र के लिये समर्पित है। जिस राष्ट्र में वह रहता है उसमें कोई हीनता नहीं देखना चाहता तथा अपने प्रताप से सब कुछ परिपूर्ण करने का संकल्प लेता है। पुरोहित आत्म-स्वाभिमान की प्रतिमूर्ति है–

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः।।
तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतराउत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः।। अथर्व० ३.१६.१,४

'मेरा ज्ञान और पराक्रम-वर्चस्व प्रसिद्ध है, सिद्धि प्रदान करने वाला है। मैं जिनका पुरोहित हूँ उन वीरों का शस्त्र सिद्धिवाला व अमोघ होवे। शस्त्र परशु से तीक्ष्ण, अग्नि से भी अधिक दाहक, भस्म करने वाले तथा इन्द्र के वज्र से भी बढ़कर हों। इन्द्र का वज्र है विद्युत् अतः अन्तरिक्षस्थानीय बिजली से अधिक भयंकर होवें'।

ऐतरेय ब्राह्मण में पुरोहित की प्रशंसा की गयी है। राजा के लिये अनिवार्य रूप से राष्ट्र-पुरोहित की नियुक्ति का आदेश है। जो राजा पुरोहित की नियुक्ति नहीं करता, विद्वान् धार्मिक पुण्यात्मा उस राजा का अन्न नहीं खाते। जो राजा राष्ट्र की रक्षा करने वाले ब्राह्मण को पुरोहित नियुक्त करता है; उसका राष्ट्र सुरक्षित रहता है। वह आयु से पहले नहीं मरता, पूरी आयु को पाता है। राष्ट्रभक्त पुरोहित के रहते प्रजा बिना किसी प्रकार के विरोध और दलबन्दी के राजाज्ञा का पालन करती है। इस सम्बन्ध में दो ऋचाएँ प्रस्तुत हैं–

स इद् राजा प्रतिजन्यानि विश्वा शुष्मेण तस्थावभिवीर्येण।
बृहस्पतिं यः सुभृतं बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्।।
स इत् क्षेति सुधित ओकसि स्व तस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्।
तस्मै विशः स्वयमेवानमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति।।
ऋ० ४.५०.७, ८

'जो राजा उत्तम प्रकार से धारण किये गये, प्रथम सेवनीय विद्वान् पुरोहित का भरण-पोषण करता है, सत्कार करता है तथा वन्दना करता है वह राजा प्रति-पक्षियों पर ठहरता है। वह प्रसन्न रहता है। वाणी सदा उसे पुष्ट करती है। उसे प्रजाएँ स्वयं आकर नमन करती हैं जिसके राज्य में वेदों का विद्वान् प्रथम सम्मानित किया जाता है।'

यहाँ पुरोहित का वेदज्ञ होना सूचित होता है। पुरोहित पूर्वभाज है क्योंकि सर्वप्रथम उसका अंश उसे दिया जाता है। वल्गूयति का अर्थ है सम्मान करना। सुभृतं का अर्थ है अच्छी तरह रख-रखाव होना। ओकसि का अर्थ निवास स्थान। जो राजा योग्य पुरोहित की व्यवस्था अपने राष्ट्र में करता है वह पराजित नहीं होता, समय पर उसे उचित परामर्श मिलता है, अपने कर्त्तव्य से स्खलित नहीं होता और देश-विदेश में उसका यश बढ़ता है। किसी राष्ट्र में पुरोहित का रहना राष्ट्र की उन्नति का प्रतीक है। ऐतरेय ब्राह्मण में बृहस्पति का अर्थ पुरोहित किया गया है। राष्ट्र में सबसे बड़ा पद पुरोहित का है। महाराज मनुजी राजधर्म-प्रकरण में लिखते हैं कि राजा पुरोहित की नियुक्ति करे, ऋत्विजों का वरण करे। ये लोग राजा के अग्निहोत्र-पक्षेष्टि आदि यज्ञ कर्मों को सम्पन्न करते रहें। राजा के कर्त्तव्यों में यह भी एक कर्त्तव्य है–

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजः।
तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च।। मनु० ७-७८

पुरोहित के व्यवसाय को पौरोहित्य कहते हैं। इस कार्य को करने वाले योग्यता एवं प्रतिभा सम्पन्न हों तो अपने कर्त्तव्य को ठीक से निभा सकेंगे। पुरोहित को षडङ्ग वेदाध्ययन करना अनिवार्य है। वेद में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो षडङ्ग बिना पढ़े समझ में नहीं आती है। साधारण नौकरी करने के लिये इतनी योग्यता की आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यक्ति जो सब कामों में आगे रहता हो तो वह योग्यता तथा अनुभव में भी वैसा ही होना चाहिये। यदि किसी प्रकार की कमी होगी तो दूसरा व्यक्ति आगे आयेगा फिर पुरोहित निरर्थक हो जाता है। कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा तथा कर्मकाण्ड के फल में विश्वास होने से कार्य का महत्त्व बढ़ जाता है। विद्वत्ता के साथ-साथ आचरण में ज्ञान को ढाला गया हो तो व्यक्तित्व प्रभावशाली बन जाता है। कर्मकाण्ड में दक्षता होने से निर्भीकता रहती है। यज्ञ सम्बन्धी सभी बातों की जानकारी होनी आवश्यक है। समिधाएँ कैसे हों ? चयन कैसे किया जाय ? सामग्री की पहचान, मन्त्रों का विनियोग, प्रकरणानुसार व्याख्या तथा उच्चारण शुद्ध हो तो श्रोताओं में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उच्चारण के सम्बन्ध में प्रायः एक कमी का अनुभव होता है कि पुरोहित उच्चारण विज्ञान-ध्वनि विज्ञान (Phonetics) से अनभिज्ञ होते हैं जबकि

वेदपाठी के लिये यह परमावश्यक है। यह प्रयास रहे कि उच्चारण में किसी प्रकार की त्रुटि न रहे। थोड़ा आयुर्वेद का अध्ययन भी हो छोटी-छोटी वीमारियों से वचने का उपाय भी दूसरों को वता सकते हैं। वीमारी से वचने के उपायों को जानना चिकित्सा से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। पुरोहित को वहुश्रुत (वहुत से शास्त्रों को पढ़ने वाला) होना चाहिये। कर्मकाण्ड या कार्यक्रमों की व्यस्तता इतनी न वढ़ जाय कि स्वाध्याय के लिये समय ही न वचे। कार्य अधिक होने पर भी स्वाध्याय के लिये समय अवश्य बचाना चाहिये।

सवसे मुख्य वात दिनचर्या की है। यदि दिनचर्या सुगठित है तो सफलता अधिक मिलेगी और समय का सदुपयोग करने की आदत वन जायेगी। समय का पालन अपने लिये भी तथा दूसरों के लिये भी सुखद होता है। पुरोहित तपस्वी हो तो जीवन प्रगति की ओर वढ़ता है। तपस्या में अद्‌भुत शक्ति है, तपस्वी पुरोहित की वरावरी साधारण व्यक्ति नहीं कर पायेगा। तपस्या से शरीर लघु होता है तथा आलस्य दूर भागता है। निरन्तर आगे ही आगे वढ़ते जाना जीवन की परिभाषा है। अपना कार्य करते हुए दूसरे का भी भला कर देना परमार्थ कहलाता है। जनसाधारण पुरोहित से अपेक्षा करता है कि पुरोहित के द्वारा उनकी समस्याओं को हल किया जायेगा; इसलिये विचित्र समस्याएँ पुरोहित के सामने आती हैं। अव पुरोहित का कर्त्तव्य है कि वह उनका ठीक-ठीक समाधान करे। प्रत्येक कार्य में पुरोहित की योग्यता झलकती है। पौरोहित्य का लक्ष्य है वैदिक आदर्शों को अपनाना तया सवको अवगत कराना। वैदिक धर्म एवं संस्कृति का प्रचार-प्रसार करने हेतु सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये।

❋❋❋

30. वैदिक राष्ट्र

संस्कृत की राजधातु से राष्ट्र शब्द बनता है; जिसका अर्थ है–शोभावाला। राष्ट्र वही है जो भूतल पर सुशोभित हो। वैदिक राष्ट्र सम्पन्नता का प्रतीक है। जिसके सभी निवासी सुख का अनुभव करते हों, उत्पादन भरपूर हो, खाद्यान्नादि की आत्मनिर्भरता हो, सुरक्षा के सभी साधन मौजूद हों न्यायव्यवस्था पक्षपात रहित हो, सभी के लिये एक-सा कानून हो, कृषि एवं पशुपालन ठीक प्रकार से होता हो, राष्ट्र नीति प्रशंसित हो, राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की जानकारी रखता हो, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष पर किसी दूसरे का अधिकार न हो, सीमाएँ निर्विवाद तथा पूर्ण सुरक्षित हों तथा प्रजापालन ठीक-ठीक हो रहा हो ये पहचान राष्ट्र की है। अथर्ववेद में कुछ मुख्य तत्त्वों का उल्लेख किया गया है जिन्हें राष्ट्र का आधार कहा जा सकता है–'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।' अथर्व० १२.१.१

सत्य–ऋत-उग्र-दीक्षा-तप-ब्रह्म-यज्ञ ये सब किसी राष्ट्र को धारण करते हैं बृहत् सबका विशेषण है। बृहत् का अर्थ है विशाल या बहुत मात्रा में ये सब बातें हों।

सत्यम्–सत्य का व्यवहार, सत्य का आचरण, सत्य भाषण, सत्य कल्पनाएँ, सत्यनीति, सत्यनिर्देश तथा सत्य का प्रचार।

ऋतम्–न्याय व्यवस्था, कानून व्यवस्था तथा नियमों का कठोरता से पालन।

उग्रम्–शौर्य, तेज, साहस, सुदृढ़ सैन्य व्यवस्था, दण्ड विधान एवं अदम्यता।

दीक्षा–भाँति-भाँति के प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था व नागरिक को योग्य बनाना।

तपः–कर्त्तव्य का पालन, श्रम, सहनशीलता तथा स्वाध्याय।

ब्रह्म–विद्या का प्रचार, ज्ञानियों का संरक्षण, आस्तिक्य बुद्धि, शिक्षा समिति का गठन।

यज्ञः–नव-निर्माण, नये-नये आविष्कार, अनुसन्धान, अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान, आयात-निर्यात, उत्पादन क्षमता।

यजुर्वेद के अनुसार वैदिक राष्ट्र की कल्पना एक मन्त्र में अवलोकनीय है–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।। यजुः २२-२२

परमात्मा से प्रार्थना की गयी है–हे प्रभो हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मतेज सम्पन्न हों। क्षत्रिय शूर, धनुर्धर, संकट को दूर करने वाले एवं महारथी होंवे। गायें बहुत दूध देने वाली होवें। बैल बोझा ढोने में समर्थ हों। घोड़े शीघ्र पहुँचाने वाले हों। स्त्री कुल को धारण करने

वाली हो। यजमानपुत्र विजय की इच्छा रखने वाला तथा सभ्य (सभा में बैठने योग्य) हो। वह युवा (कर्मशील) तथा वीर हो। बादल समय पर वर्षा करें। औषधियाँ फल वाली हों तथा योगक्षेम ठीक प्रकार से चलता रहे।

राष्ट्र का भार ऐसे नेता को दिया जाय जो तथ्य को जाने, ऋत का अवलम्बन करे तथा विवेक के द्वारा अनृत का प्रतिकार करें। एक मन्त्र में संकेत मिलता है कि असुरों की माया समाप्त हो गयी और तुम (राजा) मेरे जैसे सज्जनों की कामना करते हो इसी नीति से ऋत से अनृत को समाप्त करते हुए मेरे राष्ट्र के अधिपति बनो–

निर्माया उ त्ये असुरा अभूवन् त्वं च मा वरूण कामयासे।
ऋतेन राजन्ननृतं वि विञ्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि।। ऋ० १०.१२४.५

राजा राष्ट्र के स्वरूप का निर्धारण करता है। राष्ट्र में राजा की ऐसी भूमिका होती है जैसे परिवार में पिता की। प्रजा का संरक्षण करना उसका मुख्य कर्त्तव्य है। राष्ट्र का स्वामित्व ऐसे व्यक्ति पर न चला जाय जो चोर-डाकू-पापी हो–'मा व स्तेन ईशत माघशंसः'। राजा अपने हितों को गौण तथा प्रजा के हितों को मुख्य समझे। राष्ट्र में विभिन्न वर्ग के व्यक्ति रहते हैं; सभी को यथाशक्ति सन्तुष्ट करना उसका काम है। वह ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-म्लेच्छ-निषाद-जनजाति आदि सभी का राजा है। सम्मान की दृष्टि से वह सर्वोपरि है। पद की गरिमा गुणों से होती है। राजा तेजस्वी व प्रतापी हो तो विरोधी शक्तियों को दबा कर सुचारू रूप से व्यवस्था चला सकता है। विलक्षण बुद्धि वाला राजा राष्ट्र की समस्याओं का समाधान शीघ्र कर लेता है। शोषण करने वालों का तिरस्कार होना चाहिये; उन्हें तदनुकूल मायावी उपायों से नष्ट कर दिया जाय। ऐसा तभी सम्भव है जबकि दण्ड व्यवस्था कठोर हो।

राष्ट्र की एक विशेषता यह है कि दूत का चयन ठीक प्रकार से किया जाय। दूत की योग्यता के सम्बन्ध में वेद का परामर्श इस प्रकार है–

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। ऋ० १.१२.१

'विद्वान् को दूत के लिये वरण करते हैं जो सत्कर्मों का अनुष्ठान करने वाला हो, सब कुछ जानने वाला हो तथा राष्ट्र-यज्ञ का कर्ता हो।' अग्नि का भाव है विवेकशील, पवित्र आचरण वाला, नेतृत्व में सक्षम और राष्ट्र की उन्नति करने वाला हो। 'होता' शुभकर्मों का करने वाला हो। विश्व वेदसम् अर्थात् सब कुछ जानने वाला, सम्पूर्ण विद्याओं तथा नीतियों को जानने वाला हो। राज्यकार्य का अनुभवी और राष्ट्रीय व्यवहारों को जानने वाला हो।

शत्रुनीति के सम्बन्ध में वेद का संकेत है कि न तो द्युलोक में और न पृथिवी पर

कोई शत्रु विद्यमान रहे न सीमाओं पर। शत्रु का विनाश करके उसे धर दवाने का वल होवे। सैनिक शत्रु को परास्त करें। सैन्यशक्ति पुष्ट हो ऐसा प्रयास किया जाय–

न हि वः शत्रुर्विविदे अधिद्यवि न भूम्यां रिशादसः।
युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रूद्रासो नू चिदाधृषे।। ऋ० १.३६.४

कोई दुष्ट अनायास ही राष्ट्र पर अधिकार न कर बैठे इस विषय में भी सावधान रहना आवश्यक है। राष्ट्र विघातक शक्ति को वेद में वृत्र कहा गया है, साथ ही वह असुर भी है। ऐसे वृत्र को सभी संगठित होकर मार डालें, आसुरी शक्ति राष्ट्र में पनपनी नहीं चाहिये; कहीं दुष्ट शासक न वन बैठें–

हत वृत्रं सुदानव इन्द्रेण सहसा युजा।
मा नो दुःशंस ईशत।। ऋ० १.२३.९

सैनिकों का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र में भ्रष्टाचार फैलाने वालों को समूल नष्ट कर देवें। राष्ट्र में कहीं भी दुष्टों को संरक्षण न मिले। दुष्टों का वध करना राजा का, सैनिकों का तथा प्रजा का धर्म है। वैसे राजा को सोम वताया गया है परन्तु साथ ही वृत्रहा भी है। सौम्य गुण युक्त होने पर दुष्टों का तत्काल विनाश करने वाला हो। वेद में उपदेश दिया गया है कि चुगली करने वाला, मिथ्या भाषी या पापी हो तो उसे पैर से कुचल दो–

त्वं तस्य द्वयाविनोऽघशंसस्य कस्यचित्। पदाभितिष्ठ तपुषिम्।। ऋ० १.४२.४

प्रजा–प्रजा ऐसी हो जो अनुशासन में रहे, सव प्रकार से राजा का सहयोग करे। नागरिक सभ्य एवं सुशिक्षित हों। विभिन्न प्रकार के ज्ञान वाले अर्थात् विशेषज्ञ हों जो सभी प्रकार से राष्ट्र को पुष्ट कर सकें। राज्य कर्मचारियों के कर्त्तव्य की एक झलक निम्नलिखित ऋचा में प्रस्तुत है–

ते हि वस्वो वसवानास्ते अप्रभूराः महोभिः। व्रता रक्षन्ते विश्वाहा।। ऋ० १.९०.२

'तेरे धन को सम्भाल कर रखने वाले सावधान होकर अपने तेज के द्वारा निरन्तर व्रत का पालन करते हैं।' मन्त्र में राजा के कर्मचारियों का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। वे राष्ट्र की रक्षा किस प्रकार करें ? इस प्रकार के कर्त्तव्य का संकेत मिलता है। पहली बात तो यह है कि राष्ट्र की सम्पत्ति की रक्षा सवको करनी चाहिये। प्रत्येक नागरिक अपने को राष्ट्र का सेवक समझे। दूसरी वात है कि सभी तेजस्वी, ज्ञानी तथा जागरूक हों। तीसरी वात यह है कि राष्ट्र की समस्त योजनाओं को पूर्ण सहयोग प्रदान करें, संगठित होकर राष्ट्र-रक्षा का व्रत ग्रहण करें। राज्य की स्थिरता के सम्वन्ध में कुछ उपाय वताये गये हैं–

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वाद् राष्ट्रमधिभ्रंशतः।।

इहैवैधि मापच्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलि।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय।।
ध्रुवं ते राजा वरूणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।। ऋ० १०.१७३.१, २, ५

'हे राजन् मैं तुम्हें राष्ट्र के अन्दर ले चलता हूँ, तुम्हें राज्याधिकार सौंपता हूँ। स्थिर होकर कार्य करो, चलायमान न होवो। सारी प्रजा तुम्हें चाहती है और तुम्हारा राष्ट्र अधिकार से न निकले। इस राष्ट्र के कार्यों को ही करो, इससे पतित न होवो। पर्वत के समान अचल होकर राष्ट्र को धारण करो। तुम्हारे राष्ट्र को ईश्वर, विद्वान्, इन्द्र और अग्नि अटल बनावें।'

उक्त मन्त्रों में राजा के लिये निर्देश है कि वह पक्का इरादा लेकर अपने कर्त्तव्यों में अडिग रहे। राजा को चञ्चलवृत्ति नहीं होना चाहिये। उसकी योजनाओं में स्थिरता हो, किसी प्रकार की शिथिलता न आने पावे। अपने अधिकार का ठीक प्रकार से उपयोग करे। किसी से परास्त न हो तथा व्यस्तता से भयभीत होकर राष्ट्र के कार्यों से विमुख न हो। यदि एकछत्र शासन हो तभी सफलता सम्भव है–

असपत्नः सपत्नहाभि राष्ट्रों विषासहिः।
यथाहमेषां भूतानां विराजानि जनस्य च।। ऋ० १०.१७४.५

शत्रुओं से रहित, शत्रुओं को मारने वाला, पूर्ण रूपेण अपने राष्ट्र का स्वामित्व करने वाला, विशेष रूप से शत्रुओं को पराजित करने वाला, जिस प्रकार मैं हो जाऊँ तथा इन राष्ट्रवासियों में विराजमान हो जाऊँ, सब जनों का सम्मान भी प्राप्त करूँ।' राष्ट्र का नायक निर्द्वन्द्व होकर कार्य करे, उसके कार्य में व्यवधान प्रस्तुत न हो, शत्रु के आक्रमण की अशङ्का भी न हो तो वह अच्छी तरह से कार्य कर सकता है अतः कार्यक्षेत्र निरापद होना आवश्यक है। राजा और राष्ट्र की रक्षा के लिये एक बात और बताई है कि राजा विद्वानों के बताये मार्ग पर चले–

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्य एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।। ऋ० १०.१०९.३

ब्राह्मण की वाणी का अधिकार केवल हाथ से ही अर्थात् संकेतमात्र से ही ग्रहण किया जाना चाहिये। जो कुछ भी विद्वान् निर्देश करे उसे स्वीकार करना ही ठीक है। यह दूत अथवा प्रेरक के लिये स्थित नहीं है अर्थात् विद्वान् के परामर्श में शंका-सन्देह आदि नहीं होना चाहिये। जो राजा ऐसा करता है उसका राष्ट्र सुरक्षित रहता है। ब्राह्मण की वाणी पर बल से अधिकार न किया जाय और न उपेक्षा ही होनी चाहिये। राजा-प्रजा-कर्मचारी-मार्गदर्शक-विद्वान्-नीतिमान् ये सभी लोग शुद्ध हृदय से राष्ट्र के लिये समर्पित हो जायें तो राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप दृष्टिगोचर होगा।

31. भद्र का वरण

वैदिक संस्कृति की नींव भद्र पर टिकी हुई है। कल्याण की योजना भद्र पर ही निर्भर है। वैदिक धर्म अनुष्टानों से परिपूर्ण है। वेदोक्त सिद्धान्तों का व्याख्यान शास्त्रों में उपलब्ध है। किसी भी कार्य को करते समय सम्वद्ध शास्त्र का पूर्ण सहयोग मिलता है। नीतिशास्त्रों में जीवनोपयोगी उपदेश दिया गया है। नीतिकारों का उद्देश्य था भद्र को व्यावहारिक जीवन में उतारना; ऐसा करने से मनुष्य सुख की ओर अग्रसर होता है। भद्र स्वभाव वना लेना जीवन की वहुत बड़ी पूँजी है। एक वालक सदा अभिवादन पूर्वक व्यवहार करता है अर्थात् पहले नमस्ते करके वाद में काम की वात करता है तो उस पर सभी अपना स्नेह लुटाते हैं। भद्र के विपरीत अभ्रद है इसका परिणाम भी अभ्रद होता है। जो वच्चा सदा उत्पात ही करता है, सवकी हानि ही करता है तो वह अपमानित होता है तथा साथ ही ईर्ष्या का पात्र वनता है। सामान्य जीवन व्यतीत करने हेतु भी भद्र की आवश्यकता है। विपरीत अर्थात् अभ्रद अमंगल द्योतक है। अच्छे को भद्र और वुरे को अभद्र कहा जाता है। वेद ने तो समष्टि रूपी भद्र का प्राविधान किया है जिसमें कुछ बच ही नहीं पाता–

आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्यासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे।।

ऋ० १.८९.१

'ऐसे भद्र कृत्य हमें सव ओर से प्राप्त हों जो हिंसा से पृथक्, न त्यागने योग्य तथा दुःखो के विनाशक हों। देवता हमारे घरों या सभाओं में हमारी उन्नति करने के लिये और आयु की वृद्धि के लिये आवें, वे प्रतिदिन हमारी रक्षा करें।' वैदिक ऋषि सारे संसार के भद्र को समेट कर मानवहृदय में संजोना चाहते थे। मनुष्य आजीवन भद्र से जुड़ा रहे। भद्र की प्राप्ति का एक और साधन वताया गया है कि विद्वानों का संग सदैव करते रहें तो हम व्यापक भद्रभाव से परिपूर्ण होंगे। विद्वानों की विशेषता है कि उनका जीवन भद्रमय होता है और वे सदैव भद्र के प्रेरक होते हैं। विद्वानों के साथ रहकर कभी अभद्र की शिक्षा मिल ही नहीं सकती। इसी दृष्टि से विद्वानों की कामना की जाती है–

देवानां भद्रा सुमति र्ऋजूयतां देवानां रातिरभिनो निवर्तताम्।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीव से।।

ऋ० १.८९.२

'सरल मार्ग पर चलने वाले विद्वानों की भद्र सुमति हम पर रहे; उनकी विद्या दानादि उपलब्धियाँ प्राप्त होती रहें। हम उनकी मित्रता को प्राप्त करें और हमारी आयु को बढ़ावें।'

मन्त्र में, विद्वानों के द्वारा क्या-क्या मिलता है, यह वताया गया है। यदि हमें मित्र वनाने का चाव है तो विद्वानों से मैत्री करें, उनकी मैत्री से सब कुछ सम्भव है। जो विद्वानों की सुमति में रहता है, वह सदा सुखी रहता है तथा दीर्घायु होता है। आज यदि वेद के इस उपदेश को सभी मान लें तो मनुष्य पथभ्रष्ट होने से बच जाय। विद्वान् की शरण ऐसी होती है जैसे विशाल वृक्ष, जिससे छाया और फल दोनों ही मिलते हैं। यदि दैववश फल न भी लगे तो छाया को कौन रोक सकता है ? ऐसे वृक्ष का सेवन अवश्य ही करना चाहिये-

सेवितव्यो महावृक्षो फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते।।

हमारे कार्यों का सूत्रपात मन से होता है। मन का संकल्प कार्य की प्रारम्भिक अवस्था है। हम एक वात को निरन्तर अपने मन में विचारते रहते हैं तो एक दिन उसे कार्यान्वित भी करते हैं। यदि हमें भद्र वनना है तो सर्वप्रथम मन को भद्र वनाना होगा-

भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येना समत्सु सासहः।
अवस्थिरा तनु हि भूरिशर्धतां वनेमा ते अभिष्टिभिः।। ऋ० ८.१९.२०

'आसुरी वृत्तियों को समाप्त करने के लिये मन को भद्र वनाओ जिससे अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित होने पर मन की विजय हो। पूर्ण स्थिरता को प्राप्त करो तथा वाञ्छित मनोरथों से सम्पन्न वनो।' चित्तवृत्तियाँ असंख्य हैं। उनके दो रूप हैं; क्लिष्ट-अक्लिष्ट। क्लिष्ट वृत्तियाँ निराशावाद की ओर ले जाती हैं जवकि अक्लिष्ट वृत्तियाँ आशावाद को जागृत करती हैं। यदि क्लिष्ट अर्थात् निराशावादी वृत्तियाँ मन को घेर लेती हैं तो कल्याण न होकर पतन के लक्षण वन जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन की भद्रता ही रक्षा करती है। मन पर कभी भी बुरा प्रभाव न पड़े यही मन की भद्रता है। संकट की घड़ियों में भी यदि मन स्थिर रहता है तो अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिलती है। घवराहट होने पर शत्रु से मुकावला लेना कठिन हो जाता है। मन को भद्र वनाने के लिये एक उपाय बताया गया है कि हम जो अग्नि में आहुति देते हैं, दान करते हैं तथा स्तुति प्रार्थनोपासना करते हैं ये सव भद्रता के लक्षण हैं और इनसे भद्रता आती है-

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।
भद्रा उत प्रशस्तयः।। ऋ० ८.१९.१९

हमारे कार्यों से हमारी पहचान होती है कि हम कैसे हैं ? इसलिये मन्त्र में निर्देश है कि जीवन में जो कुछ करो भद्र करो, भला करो। स्तुति प्रार्थना में भद्रता की बात यह है कि उचित पुरुषार्थ के साथ प्रार्थना की जाय इसके अतिरिक्त अपने लिये सुख की तथा

दूसरे के लिये दुःख की प्रार्थना न की जाय। भद्रता हमारी इन्द्रियों में, शरीर में व्याप्त होनी चाहिये। हम देवता बन कर कानों से भद्र सुनें, यजनशील बनकर आँखों से भद्र देखें, स्थिर अंगों से व शरीर से स्तुति करते हुए पुण्य कार्यों के लिये आयु को वढ़ावे–

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।। ऋ० १.८६.८

प्रत्येक इन्द्रिय के व्यापार पर ध्यान देने से अभ्यास परिपक्व होता है। मनुष्य अपनी कामनाओं में भद्र की कल्पना करता है तो कार्यों में भी भद्रता का समावेश आवश्यक है। भद्र के प्रति दक्षता होने से कल्याण अवश्यम्भावी है। हमारे भोजन तथा वस्त्र में भी भद्रता होनी चाहिये। अच्छे-अच्छे पदार्थों को भोजन में सम्मिलित करें जिनसे अच्छी विचारधारा वने और वस्त्र भी ऐसे हों जिनसे अभद्रता का प्रदर्शन न हो, उठना-वैठना-चलना वार्तालाप आदि सभी में भद्रता हो। सव प्रकार से भद्रता आने पर भद्रपुरुष कहलाते हैं। वल, वुद्धि व ज्ञान में भी भद्रता अपेक्षित है। भद्र को अपनाने से जीवन वहुमूल्य हो जाता है।

❋❋❋

32. आचार्यदेवो भव

तैत्तिरीय संहिता में उपदेश दिया गया है कि आचार्य को देवता मानो, आचार्य देवता वाले वनो। ब्रह्मचारी जिस समय विद्या पूर्ण करके गृहस्थ की ओर जाता है तो उस समय तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार आचार्य को धनरूपी दक्षिणा प्रदान करके गृहस्थ में प्रवेश करने का आदेश है। पारस्कर गृह्यसूत्र में छ प्रकार के व्यक्तियों को अर्घ्य अर्थात् पूज्य वताया गया है, इनमें आचार्य का सर्वप्रथम उल्लेख है। मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि परतत्व के विशेष ज्ञान के लिये जिज्ञासु समित्पाणि होकर—हाथ में अपनी श्रद्धा के अनुसार पदार्थ लेकर, श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जावे—

तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। मु० १.२.१२

यहाँ समित्पाणिः का भाव है श्रद्धानुसार हाथ में कुछ भेंट लेकर गुरु के पास जावे। ज्ञान प्राप्त करने की यही परिपाटी है। पूर्वार्द्ध में दो वातें आयी हैं कि तत्वज्ञान के लिये ऐसे गुरु के पास जाना चाहिये जिसमें दो गुण हों। पहला यह कि वह श्रोत्रिय हो, वेदपारंगत हो, वेद के समस्त रहस्य को जानता हो और दूसरों को भली-भाँति समझा सकता हो। दूसरी बात है कि वह ब्रह्मनिष्ठ हो। इसके दो अर्थ हैं; एक तो यह कि वह ईश्वर विश्वासी हो, प्रभु के लिये अपने को समर्पित कर चुका हो, दूसरा अर्थ है कि उसने ज्ञान को जीवन में ढाल लिया हो। यह गुरु या आचार्य की योग्यता का निर्धारण है। यास्काचार्य ने आचार्य शब्द की निरुक्ति की है कि आचार्य आचरण को ग्रहण कराता है; विभिन्न विषयों को विधिपूर्वक व्यवस्थित करता है, वह बौद्धिक शक्ति को विकसित करता है—'आचार्यः कस्मादाचार्य· आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोतिवुद्धिमिति वा।' निरुक्त—१.४.१२

आचार्य स्वयं पवित्र आचरण वाला होगा तभी शिष्यों को आचारवान् बना पायेगा। बौद्धिक विकास का सम्बन्ध ज्ञान से है। यास्काचार्य द्वारा दी गयी परिभाषा अपने में पूर्ण है। मनुजी का मत है कि जो द्विज उपनयनसंस्कारपूर्वक शिष्य को कल्प और उपनिषद् सहित वेद पढ़ाता है, वह आचार्य कहलाता है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।। २-१४०

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार वह गुरु होता है जो उपनयन तक की क्रियाएँ करके ब्रह्मचारी को वेद का ज्ञान देता है। केवल उपनयन संस्कार करके वेद प्रदान करने वाले

को आचार्य कहा गया है–

स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
उपनीय ददद् वेदमाचार्यः स उदाहृतः।।

सामान्यतः विद्वज्जन उसे आचार्य मानते हैं जो उपनयन करे, वेद का ज्ञान प्रदान करे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य वेदज्ञ होना चाहिये। आचार्य का कर्त्तव्य वेद पढ़ाना, यथाशक्ति वेद प्रचार करना है। आचार्य अपने कुल में अन्तेवासी को रखकर उपनयन करता है और तीन रात्रि उसे धारण करता है। जब वह ब्रह्मचारी विद्या के द्वारा प्रसिद्ध हो जाता है तो विद्वान् उसे देखने आते हैं–

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

अथर्व० ११.५.३

ब्रह्मचर्याश्रम निर्माण काल है और निर्माता है आचार्य। व्यक्तित्व के विकास के सम्बन्ध में माता-पिता से भी अधिक आचार्य का महत्त्व है। जीवन में सद्गुणों का समावेश ही इस आश्रम का उद्देश्य है। इसे माता-पिता पूर्ण नहीं कर सकते। शास्त्रों में आचार्य को यह कार्य सौंपा गया है। राम-कृष्णादि सभी महापुरुषों ने इस परम्परा का पालन किया। ब्रह्मचारी का जब विद्या प्राप्ति का समय आता है तो वह सर्वत्र खोज करता हुआ आचार्य की शरण में जाना चाहता है। विद्वान् उसके मन की बात को समझ जाते हैं और उसके कार्य में सहयोग देते हैं। ब्रह्मचारी कठोर तपस्या का व्रत लेता है और आचार्य की शरण में जाकर उसे सन्तुष्ट करता है कि वह सदैव नियमों का पालन करेगा। आचार्य ब्रह्मचारी के लिये इहलोक तथा परलोक दोनों का निर्माण करता है। आचार्य के प्रयास से भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं। पृथ्वी और द्युलोक अर्थात् भोग और ज्ञान दोनों के लिये मार्ग प्रशस्त करता है। ब्रह्मचारी इन दोनों लोकों की रक्षा करता है, अपनी तपस्या को और अधिक उत्कृष्ट बनाता है तथा तपस्या के प्रभाव से सब विद्वान् उसके लिये एक मन हो जाते हैं–

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभेइमेउर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः समनसो भवन्ति।।

अथर्व० ११.५.८

जितनी भी शक्तियाँ हैं, उन सबका साक्षात्कार आचार्य करा देता है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करना सिखाता है। जल-चन्द्रमा-औषधियाँ-दूध-मेघ इन से होने वाली उपलब्धियों से

अवगत कराता है। ब्रह्मचारी में वीरता भरा है, मोक्ष सुख भोगने का पात्र वना देता है तथा जीवन की सभी समस्याओं को हल करने की क्षमता पैदा करता है–

आचार्यो मृत्युर्वरूणः सोम औषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्।।' अथर्व० ११.५.१४

एक सामान्य छात्र को द्विज बनाना आचार्य का ही काम है। वह शिष्य को अपने जैसा अर्थात् आचार्य ही वना देता है। आचार्य उसे प्रजापति वनाता है अर्थात् गृहस्थ जीवन में अपनी प्रजा (सन्तान) का पालन भली-भाँति कर लेता है। विराट् वनाता है अर्थात् वहुमुखी प्रतिभा पैदा करता है जिससे शिष्य वड़े-से-वड़े पद के योग्य हो जाता है, शिष्य को इन्द्र वनाता है, वह सभी ऐश्वर्यों का पात्र हो जाता है। जितेन्द्रिय बनाता है–

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराजिन्द्रोऽभवद् वशी।। अथर्व० ११.५.१६

जहाँ वेद में आचार्य को कठोर कर्त्तव्य का परायण बताया है, वहीं दूसरी ओर अन्तेवासी के लिये भी वन्धन लगा दिया है कि कोई साधारण भोगी-विलासी-सुखार्थी आचार्य के पास न पहुँच जाय, केवल तपस्वी ही ऐसी योग्यता रखता है। आचार्य ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करने वाले को ही चाहता है। वेदविद्या को जीवन में ढाल सके और इन्द्रियदमन कर सके वही आचार्य का चहेता है–

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।। अथर्व० ११.५.१७

❋❋❋

33. सुख की खोज

मनुष्य जब सृष्टि के मनोरम पदार्थों को देखता है तो अनुभव करता है कि संसार उसका है परन्तु किञ्चित् प्रतिकूल होने पर वह व्याकुल हो उठता है। ये ऐसे क्षण हैं, जब मनुष्य सोचता है कि इस मनोहारी जगत् से सुख का कोई सम्बन्ध नहीं, सुख का स्रोत कहीं अन्यत्र है। इसकी प्राप्ति के लिये वह सारा जीवन लगा देता है। पहले तो यह विचारना है कि परमात्मा ने संसार को सुखमय बनाया है तो दुःख कहाँ से उत्पन्न हो गया ? इस सम्बन्ध में हमारे दर्शनशास्त्र बताते हैं कि आध्यात्मिक - आधिभौतिक - आधिदैविक–ये तीन प्रकार के दुःख प्रत्येक मनुष्य के साथ लगे रहते हैं। यदि असावधान होकर मनुष्य इस संसार में लिप्त हो जाय तो बहुत दुःखी रहता है और मृत्युपर्यन्त सुख की श्वास नहीं लेता। शरीर तथा मन में जो दुःख होते हैं वे दो प्रकार के (शारीरिक तथा मानसिक), आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। १. इनमें से वात - पित्त - कफ की विषमता से जो ज्वर आदि रोग होते हैं, ये शारीरिक दुःख कहलाते हैं। २. काम - क्रोध - लोभ - मोह - ईर्ष्या - भय तथा अभीष्ट विषयों की अप्राप्ति से होने वाले दुःख मानसिक कहे जाते हैं। आधिभौतिक दुःख वे हैं जो शेर, चोर इत्यादि भौतिक प्राणियों से पैदा होते हैं। इसी तरह अग्नि, वायु इत्यादि से होने वाले कष्टों को आधिदैविक कहते हैं। आग लगना, बाढ़ आना, सूखा पड़ जाना, महामारी फैल जाना ये सब आधिदैविक दुःख हैं। मानवस्वभाव ऐसा है कि निरन्तर सुख की ओर अग्रसर है। कोई भी आविष्कार, कैसा भी अनुसन्धान हो; सबके पीछे सुख प्राप्ति का लोभ लगा हुआ है। कोई चोरी भी करता है तो सुख पाने के लिये। बड़े से बड़े अपराध के पीछे सुख की अभिलाषा जुड़ी हुई है। विदुर जी का मत है कि नीरोग रहना, ऋणी न होना, परदेश में रहना, अच्छे लोगों के साथ मेल होना, अपनी वृत्ति से जीविका चलाना और नीडर होकर रहना–मनुष्यलोक के ये छः सुख हैं–

आरोग्यमानृण्य मविप्रवासः सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीतवासः षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्।।

सांसारिक सुख के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ हमारे समक्ष आती हैं। भले ही ये अपने में पूर्ण न हों फिर भी कुछ मार्गदर्शन तो हो ही जाता है। जीवन का वास्तविक सुख क्या है, यह कहना कठिन है। विदुर जी की छः बातें अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। एक मान्यता यह भी है कि स्वाधीनता सुख और पराधीनता दुःख है। इस तथ्य को भी नहीं नकारा जा सकता क्योंकि इसमें वास्तविकता है। सन्तों का सिद्धान्त है कि सन्तोष में सुख है परन्तु आज का भौतिकवादी मानव इसको स्वीकार नहीं करेगा। इतना तो स्पष्ट है कि मात्र कल्पना से सुख का संयोग सम्भव नहीं। हमें जो चाहिये उतना ही उपाय भी अपेक्षित है। प्रत्येक उपलब्धि श्रमसाध्य है। यदि हम शारीरिक सुख चाहते हैं तो आयुर्वेद का अध्ययन अनिवार्य है। हमारे दैनिक जीवन में उपयोग में आने वाले पदार्थों की जानकारी हो, उनका

ठीक-ठीक उपयोग करना जानते हों, रोग का लक्षण, निदान तथा उपचार हमें आता हो। आयुर्वेद ने विष को भी औषधि माना है। चरक आदि ऋषियों ने जो सुझाव हमें दिये हैं हम उन पर कोई ध्यान नहीं देते, परिणाम यह होता है कि चिकित्सा चलती रहती है और रोग बढ़ता रहता है। सर्वप्रथम शरीर विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। शरीर की रचना कैसी है ? कौन-सा अंग कैसे प्रभावित होता है ? विकृति शरीर में है या हमारे खान-पान में ? शरीर का कोई अंग वास्तव में कमजोर है या हम उसके साथ अत्याचार कर रहे हैं। क्या हम भक्ष्याभक्ष्य से परिचित हैं ? क्या हम स्वास्थ्य की दृष्टि से किसी त्याज्य पदार्थ का सेवन तो नहीं करते ? कब और कैसे खाते हैं, इस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। हमारे भोजन का क्रम बना हुआ नहीं है तो कोई पदार्थ हमें पुष्टि दे यह आवश्यक नहीं। अव्यवस्थित ढंग से भोजन करने पर हम बार-बार बीमार हो सकते हैं। यदि भोजन भी ठीक लेते हैं और क्रम भी बना हुआ है तो अपेक्षित श्रम या व्यायाम नहीं करते। कुछ व्यक्ति ऐसा मानते हैं कम-से-कम काम करें, यही जीवन का सुख है परन्तु काम से बचना रोग का कारण बन जाता है। केवल औषधोपचार भी सुख का मूल नहीं है। ऐसा व्यक्ति जिसने अपने को शत-प्रतिशत चिकित्सक के हवाले कर दिया है कभी स्वस्थ नहीं रह सकता। अपाला को कुष्ठ हो गया था इस कारण पति ने परित्याग कर दिया। इस पर भी अपाला निराश नहीं हुई। उसने तपस्या की तथा वन्य औषधियों का सेवन किया, फलस्वरूप वह स्वस्थ हो गयी और पति की शरण में आयी। पति ने अपाला से क्षमा माँगी और स्वीकार कर लिया। आज चिकित्सातन्त्र इतना आगे बढ़ गया है कि मनुष्य को कुछ सोचने का अवसर ही नहीं मिलता। अधिकांश लोगों को अपनी प्रकृति का ही पता नहीं। वात-पित्त-कफ तीन प्रकार की प्रकृतियाँ होती हैं। प्रकृति के अनुसार उपचार किया जाय तो शीघ्र लाभ होगा। सभी व्यक्ति चिकित्सक तो नहीं बन सकते फिर भी स्वास्थ्यरक्षा के उपाय तो सबको जानने जरूरी हैं।

कुछ हमारा रहन-सहन प्रकृति के नियमों के विपरीत है। रात्रि में भरपूर भोजन करना, दिन में पूरी नींद लेना, ऋतु के अनुसार न रहना, वस्त्रों का प्रदर्शन, आधुनिकता के नाम पर नशीले पदार्थों का सेवन आदि करके हम सुख को चुनौती देते हैं। निरन्तर खाते रहने से आमाशय का थैला हर समय भरा रहेगा तो अपच होना निश्चित है, उसे कुछ अवकाश अवश्य दिया जाना चाहिये। यदि हमें जल का सेवन करना आ जाय तो हम बहुत से रोगों से बच सकते हैं। यही स्थिति वायु सेवन की है। इसके अतिरिक्त हम शरीर की बाहरी सजावट पर जितना ध्यान देते हैं यदि उतना आन्तरिक रूप से भी सावधान रहें तो बीमार होना जरूरी नहीं। वस्त्र शरीर को ढकने के लिये हैं, ऐसा सोचकर वस्त्र धारण करें। सौन्दर्य प्रसाधन का यदि स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तो उससे अपने को बचाना ही ठीक

है। शरीर परमात्मा की दी हुई धरोहर है यदि हम इसके साथ अन्याय करते हैं तो परमात्मा के प्रशासन में हम दण्ड के भागी होंगे, अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम स्वास्थ्य को प्राथमिकता दें।

मानसिक रोगों के सम्बन्ध में मन की बात आती है। यह आश्चर्य की बात है कि जिसका कोई आकार नहीं, उसको भी रोग लग जाता है। हमारे अन्दर कुछ विकृतियाँ हैं जो रोग को जन्म देती हैं। अनावश्यक क्रोध-ईर्ष्या-द्वेष-मोह-लोभ आदि सब तनाव को पैदा करते हैं और तनाव मानसिक सन्तुलन को समाप्त कर देता है जो रोग का कारण है। हम तनाव से जितने दूर रहेंगे उतने ही स्वस्थ रहेंगे। निर्विकार मन ही स्वस्थ रह सकता है। कुछ हानि होने पर सहन न करना और निरन्तर शोक करना रोग के सदृश है। प्रसन्नचित्त रहना, चिन्ता न करना स्वास्थ्य का लक्षण है। प्रातःकाल चिन्तन-ध्यान-जप आदि करने से मानसिक व्याधियों से मुक्ति मिलती है। ऋषियों ने हमारी दिनचर्या में सन्ध्योपासनादि को सम्मिलित किया है। यदि हम ऋषियों के आदेशानुसार दिनचर्या बना लेते हैं तो शरीर-मन-बुद्धि सब कुछ ठीक रहेंगे।

एक स्थिति ऐसी आती है कि शारीरिक एवं मानसिक रूप से ठीक होने पर भी मनुष्य अतृप्त रहता है; वह निरन्तर किसी अलभ्य पदार्थ की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहता है। यह आत्मा की भूख है क्योंकि हम आत्मा के लिये कुछ नहीं कर रहे हैं, जो कुछ उसे चाहिये वह नहीं मिल रहा है। इस सम्बन्ध में आत्मज्ञान ही सर्वोपरि है। आध्यात्मिक दुःखों की चिकित्सा आध्यात्मिक ही होती है। हम सांसारिक व्यवहारों में समय नष्ट कर देते हैं। थोड़ा समय आत्मा के लिये बचायें तो आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त होगी।

दूसरे प्रकार का आधिभौतिक दुःख है जो संसार में रहने वालों से होता है। इससे बचने के लिये भौतिक उपाय ही हैं। हिंसक पशुओं से बचकर रहें, सज्जनों से मेल बढ़ायें। दुष्ट ही दुःख देता है, सज्जन नहीं। यदि हम पशु-पक्षियों से अपना सामञ्जस्य बना लेते हैं तो ये हमें सुख भी दे सकते हैं।

आधिदैविक दुःख प्रकृति के कुपित होने पर होते हैं। भूगोल-खगोल का ज्ञान इस क्षेत्र में उपयोगी होता है। प्रकृति के साथ सामञ्जस्य हो पाना कठिन है फिर भी यथाशक्ति प्रयास करते रहना चाहिये। कुछ लौकिक उपाय भी हैं। सूखा पड़े तो वृष्टियज्ञ का विधान है। बाढ़ आये तो बाँध आदि का प्रबन्ध किया जाता है। विज्ञान इतना प्रगति पर है कि भविष्य में होने वाली घटनाओं की सूचना पहले ही मिल जाती है। जैसे बैरोमीटर से वायुमण्डल का अध्ययन किया जाता है, आँधी-तूफान की सूचना मिल जाती है। प्राकृतिक आपदा

के कुछ लक्षण भी प्रगट होने लगते हैं। जिस भूभाग से पशु-पक्षी भागने लगें उस पर मनुष्य को नहीं रहना चाहिये। जहाँ पाप-अत्याचार अधिक होते हैं वहाँ भी सुख नहीं मिलता। रहने के लिये सुखप्रद एवं अनुकूल स्थान को चुनना चाहिये-

स्योना पृथिवी भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथः।। ऋ० १.२२.१५

उक्त मन्त्र में निवास के योग्य पृथिवी के लक्षण दिये गये हैं कि सुख देने वाली हो, स्वाभाविक ढंग से कोई कष्ट न होता हो, काँटे आदि न हों, सुखपूर्वक गमन - उठना - बैठना हो सके। प्रवेश में कोई बाधा न हो और सभी दृष्टियों से निरापद हो। वेद में उपद्रवरहित स्थान पर रहने का उपदेश किया गया है। एक मन्त्र में सर्वत्र शान्ति स्थापना की बात कही गयी है-

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शानितः, सर्वꣳ शान्तिः, शान्तिरेवशान्तिः, सा मा शान्ति रेधि।
यजु० ३६-१७

शान्तभाव से ही शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति ही सुख का मूल है। शान्ति का सम्बन्ध मन से है। शान्ति के साधनों को अपनाने पर ही शान्ति मिलती है। हम अपने को जितना नियमित रखेंगे उतना ही सुख प्राप्त कर सकेंगे। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में कुछ विशेषताएँ होती हैं। मनुष्य अपने लिये मनचाहा वातावरण तैयार कर सकता है। वेद में सरल मार्ग पर चलने का उपदेश किया गया है-

सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋतं यते। नात्रावखादो अस्ति वः।। ऋ० १.४१.४

आत्मबल से युक्त मनुष्य ही पापरहित, सुख से जाने योग्य मार्ग (ऋत) को प्राप्त करने की योग्यता रखता है। सरल मार्ग पर कोई भय नहीं है। मनुष्य का लक्ष्य है सत्य को प्राप्त करना और यह सरल मार्ग पर चलने से ही सम्भव है। इस मार्ग पर चलने वाले को कोई भय नहीं। वेद में प्रार्थना की गयी है 'सुगा नः सुपथा कृणु' हमारे मार्गों को उत्तम तथा गमन योग्य करो। सीधा मार्ग ही गमन योग्य होता है।

वैदिक संस्कृति सुख के लिये मार्ग प्रशस्त करती है। छोटा-सा उपाय है जो अनुकरण के समय कठिन एवं बड़ा प्रतीत होता है। वैदिक अनुसन्धान है कि सृष्टि को त्यागपूर्वक भोगो, कभी भी दूसरे की धनसम्पत्ति की इच्छा मत करो। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।' लिप्सा दुःख है और त्याग सुख है। संसार को लालचभरी दृष्टि से देखने वाला कभी सुख प्राप्त न कर सकेगा और व्यर्थ ही आयु बीत जायेगी। यदि कुछ खोजना है तो अन्धकार में कभी नहीं मिलेगा, उसके लिये प्रकाश चाहिये। वेदज्ञान रूपी प्रकाश की सहायता से सुख के साधन सुलभ होंगे और वेद द्वारा बताये गये उपायों को अपनाने से मानव जाति को निश्चय ही सुख प्राप्त होगा।

34. सत्सङ्ग की महिमा

नीतिकारों ने मानवसुधार के दो उपाय बताये हैं–स्वाध्याय और सत्सङ्ग। इनमें पहला अर्थात् स्वाध्याय ऐसा उपाय है कि जिसको सब नहीं अपना सकते क्योंकि शैक्षिक योग्यता के अभाव में स्वाध्याय सम्भव नहीं। सभी व्यक्ति उच्च शिक्षित नहीं होते। ऋषिकृत ग्रन्थों को समझना जनसाधारण के लिये कठिन है। सत्सङ्ग इतना सरल उपाय है कि कोई भी अपना सकता है, सज्जन-विद्वान् के पास जाकर अपनी ज्ञान पिपासा शान्त कर सकता है। अच्छों के साथ रहना, व्यवहार करना, उनका अनुकरण करना, यही सत्सङ्ग का स्वरूप है। वैदिक आह्वान यही है कि हम अच्छे लोगों से, विद्वानों से, उत्तम स्वभाव वालों से मिलें 'ददताघ्नता जानता सङ्गमेमहि'। हम उन व्यक्तियों से मिलें जो दानी, दयालु तथा ज्ञानसम्पन्न हों। इस सूक्ति में सङ्गति के योग्य व्यक्ति के लक्षण दिये हैं–दान, दया और ज्ञान। संसर में जहाँ भी ऐसे महानुभाव उपलब्ध हों अपना सौभाग्य समझें। एक ऋचा में समस्त देवताओं को पुकारा गया है–

विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्।
एदं बर्हिर्निषीदत।। ऋ० २.४१.१३

कोई सत्सङ्ग प्रेमी प्रयत्न कर रहा है कि सभी देवगण आवें, उसकी पुकार सुनें, आसन बिछा हुआ है इस पर बैठें। वैदिक साहित्य में देव विद्वान् को कहते हैं क्योंकि उसमें उत्तम गुण होते हैं। दिव्य गुण जिसमें हों वही देव है। विद्वानों के साथ ही सत्सङ्ग होता है वे किसी की बात को सुनते भी हैं और यथाशक्ति कठिनाई को दूर करते हैं। जब कभी खिन्नता का अनुभव हो तो विद्वानों को बुलाकर सत्सङ्ग कर लो, एक ही साथ बहुत से लाभ हो जायेंगे। एक मन्त्र में निर्देश है कि सङ्गति से सबके मन सुन्दर हो जाते हैं–

इन्द्रवायू बृहस्पतिं सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः सङ्गत्यां सुमना असत्।। ऋ० १०.१४१.४

ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति इन्द्र है, बलवान-कर्मठ व्यक्ति वायु के सदृश है और ज्ञान का भण्डार बृहस्पति है। ये सब संग्रह के योग्य हैं, इन्हें आमन्त्रित किया जाय और सबको सुन्दर मन वाला बनाया जाय, उत्कृष्ट एवं उदार भावना वाले श्रेष्ठ जन दूसरे लोगों से मिलें और सब के मन को पवित्र बनावें। जो स्वयं सुधरे हुए हैं वे ही औरों को सुधार सकते हैं। सङ्गति से व्यक्तित्व-स्वभाव सब कुछ परिवर्तित हो जाता है। अनेकों महापुरुष सङ्गति की ही देन हैं। स्वामी श्रद्धानन्द यदि महर्षि दयानन्द के सम्पर्क में न आते तो केवल मुंशीराम ही रह

जाते और आज कोई भी उनको नहीं जानता होता। फिर इतना भव्य शिक्षा निकेतन, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय कौन स्थापित करता और डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार जैसे उद्भट् विद्वान्, पवित्र आचरण वाले राष्ट्रभक्त कहाँ से बनते ? यदि मुगला डाकू पानीपत में पं० गणपति शर्मा का प्रवचन न सुनता तो आर्य समाज का उपदेशक तथा सन्त कैसे बनता ? यदि अंगुलीमाल की भेंट महात्मा बुद्ध से न हुई होती तो वह भिक्षु कैसे बनता ? नास्तिक गुरुदत्त यदि महर्षि दयानन्द के पास न आता तो आस्तिक कैसे बनता ? सुना है पारस लोहे को सोना बना देता है, परन्तु सत्सङ्गति तो मनुष्य को हीरा बना देती है। सत्सङ्गति से पशु-पक्षियों को भी सुधरते देखा है। हरिद्वार में गंगाघाट पर सत्सङ्ग होता है, उसमें नियमित रूप से एक गाय आती थी और सत्सङ्ग समाप्त होते ही उठकर चली जाती थी, उस गाय को सभी प्रेम करते थे। योगाचार्य के घर में एक कुत्ते को देखा वह फलों को देखते ही खाने की जिद करने लगता, आचार्य जी ने उसे शुद्ध शाकाहारी बना दिया था। हलवाई के पास रहने वाला एक कुत्ता देखा वह दूध-मलाई-रबड़ी आदि में रूचि रखता था। हमने बिल्ली के बच्चे पर परीक्षण किया। बच्चे घर में हवन करते तो उसे गोद में बिठा लेते थे। प्रतिदिन ऐसा करने से उसमें एक विशेषता देखी। बच्चे जब सामग्री की आहुति देते तो वह भी अपना अगला दाहिना पैर हवनकुण्ड की दिशा में उठाता मानो वह भी आहुति दे रहा हो। बन्दर कितना चञ्चल स्वभाव का होता है, सभी जानते हैं। मदारी की शिक्षा से वह इतना प्रबुद्ध हो जाता है कि तमाशा देखने वालों का अभिवादन करता है और पैसे माँगता है। सत्सङ्गति का मूल्याङ्कन करना आकाश के तारे गिनना है।

जो बच्चे आरम्भ से ही सत्पुरुषों के साथ रहते हैं उनका परम सौभाग्य है, वे अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करते हैं, उनके व्यक्तित्व में कोई दोष नहीं रह पाता। विद्यार्थी पढ़ने-लिखने में चतुर हो, परन्तु सङ्गति अच्छी न मिले तो उसकी शिक्षा का सदुपयोग नहीं हो पायेगा। कुछ विद्यार्थियों को छोटी अवस्था में दुर्व्यसनों का सेवन करते देखा गया है, कोई उनकी रक्षा नहीं करता। कुसङ्गत से लाभ कोई नहीं हानियाँ ही हैं। बुरी सङ्गत में पड़कर स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता और चारित्रिक पतन भी होता है। यश भी नहीं मिलता आयु भी घटती है क्योंकि पतित किसी को ऊपर नहीं उठने देता उसके कार्यक्रम ही ऐसे होते हैं जिनसे उत्तरोत्तर अधोगति होती है। बड़े-बड़े तस्कर-डाकू कुसंगत से ही बनते हैं। कभी परमेश्वर की कृपा हो जाती है तो कोई सज्जन-महापुरुष मिल जाता है जिसकी प्रेरणा से वे पुनः अच्छाई की ओर चल पड़ते हैं। सज्जनों का संग ईश्वर की कृपा से ही होता है। पहले मानुषतन मिल जाय और फिर श्रेष्ठ जनों का साथ मिले तो इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा ?

छात्रों के लिये एक सावधानी का परामर्श करता हूँ कि वे कुसंग से सदैव वचे रहें। कुछ विद्यार्थी केवल प्रथम श्रेणी प्राप्त करने में जीवन की सफलता मान वैठते हैं; प्रथम आना बहुत अच्छा है परन्तु अपनी वुद्धि एवं योग्यता का स्वयं उपयोग कर सकें, किसी का दबाव उनके ऊपर नहीं होना चाहिये। इस प्रकार की योग्यता सत्सङ्ग से ही आती है, अतः उठना-वैठना, खेल-कूद तथा अन्य कार्य पवित्र आचरण वालों के साथ ही करें। विद्या का लक्ष्य है मुक्ति प्राप्त करना 'सा विद्या या विमुक्तये'। अज्ञान से मुक्ति, अन्धकार से मुक्ति, बुराईयों से मुक्ति, कष्ट से मुक्ति, वुरी आदतों से मुक्ति तथा वुरे आदमियों से मुक्ति हो जाय तभी विद्या को सफल जानो। इतना तभी सम्भव है जवकि उनका पूरा समय अच्छे लोगों के साथ वीते। विद्यार्थी के व्यक्तित्व में कोई भी कमी रह गयी तो जीवनभर का पछताना रह जायेगा। एक मोटरचालक से भेंट हुई जो वहुत अच्छी तरह मोटर चलाता था। उसमें एक दोष था कि वह मदिरा का सेवन करता था। मदिरा पान के वाद वह आत्म-नियन्त्रण खो बैठता था फिर मोटर इतनी तेज चलाता कि बैठने वालों को वहुत डर लगता था कि कहीं टक्कर न हो जाय। परिणाम यह हुआ कि मोटर मालिक ने उसे हटाकर दूसरा चालक रख लिया। उस दुःखी चालक ने वताया कि छात्र जीवन में ही उसे पीने की आदत पड़ गयी थी और उसके एक अंध्यापक ने इस कार्य में सहयोग दिया। आगे चलकर यह आदत परिपक्व हो गयी। किसी भी प्रकार का सम्वन्ध करने से पहले उस व्यक्ति का भली प्रकार परीक्षण कर लो कि वह किसी वुरी आदत का दास तो नहीं है। खराव सम्वन्ध कभी भी अच्छा नहीं वनने देगा। प्रत्येक कार्य से जीवन पर कुछ न कुछ छाप पड़ती है। वुराई हमेशा बुराई है चाहे वह किसी के पास हो। यदि वुराई से वचना चाहते हो तो आओ सत्सङ्ग में चलें। किसी विद्वान् ने सत्सङ्गति के लाभ लिखें हैं कि सत्सङ्गति वुद्धि की जड़ता (मूर्खता) को दूर करती है, वाणी में सत्य का सञ्चार करती है, मान और उन्नति को प्रदान करती है, पाप को दूर हटाती है, चित्त को प्रसन्न करती है और चहुँदिश कीर्ति को फैलाती है, सत्सङ्गति मनुष्यों के लिये क्या नहीं करती अर्थात् सव कुछ करती है–

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपा करोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्सङ्गतिः कयय किं न करोति पुंसाम्।।

❋❋❋

35. वेदाङ्गपरिचय

वेदों का अध्ययन करने के लिये षडङ्गज्ञान परमावश्यक है। महाभाष्य में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं कि ब्राह्मण को बिना किसी कारण के षडङ्गवेद का अध्ययन और ज्ञान करना चाहिये–

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"

ब्राह्मण शब्द से यहाँ द्विज का ग्रहण होगा। द्विज के लिये छ अङ्गों सहित वेद का ज्ञान आवश्यक बताया गया है। द्विज को यह नहीं विचारना कि वेद पढ़कर क्या लाभ होगा ? निष्कारण का अर्थ है अनिवार्यरूप से। वेदाङ्गों का उल्लेख पाणिनीय शिक्षा में प्राप्त है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

वेदरूपी पुरुष के छन्द पाँव हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत्र, शिक्षा घ्राण तथा व्याकरण मुख है। अंगोंसहित वेदाध्ययन करके ही वेदज्ञ-पद प्राप्त होता है। मुण्डक-उपनिषद् में अपरा विद्या की चर्चा करते हुए अङ्गिरा ऋषि शौनक को बताते हैं कि अपरा विद्या ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्द-ज्योतिष है अर्थात् चार वेदों छः शास्त्रों का नाम अपरा विद्या है–'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।' इसी विषय को एक अन्य विद्वान् ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषामयनं चैव वेदाङ्गानि षडेव तु।।

शिक्षा–शिक्षा ग्रन्थ वर्णोच्चारण विधि का वर्णन करते हैं। जिसके द्वारा वेदमन्त्रों का उच्चारण शुद्ध हो उसे शिक्षाशास्त्र कहते हैं। शिक्षाशास्त्र की उपयोगिता के सम्बन्ध में तैत्तिरीय उपनिषद् में उल्लेख प्राप्त है–

'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः।'

बल का अर्थ प्रयत्न है जो बाह्य तथा आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। मुख की बाह्य आकृति कैसी हो, होठों की कैसी स्थिति हो, यह बाह्य प्रयत्न है। अन्दर से कण्ठ-जिह्वा आदि अवयवों को व्यवस्थित करना आभ्यन्तर प्रयत्न कहलाता है। साम का अभिप्राय संगीत

से है। संतान का अर्थ सन्धि है। शिक्षाशास्त्र का उद्देश्य है प्रत्येक वर्ण-स्वर-मात्रा आदि का स्पष्ट उच्चारण। श या ष का स, व का ब न बोला जाय। मात्रा के ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत तीन भेद होते हैं। ह्रस्व की एक मात्रा, दीर्घ की दो मात्राएँ तथा प्लुत की तीन मात्राएँ होती हैं। स्वर भी उदात्त अनुदात्त-स्वरित तीन प्रकार के होते हैं। ऊँचे स्वर से बोलना उदात्त, नीचे स्वर से बोलना अनुदात्त तथा मिश्रित (उदात्त + अनुदात्त) स्वर से उच्चारण करना स्वरित कहलाता है। अशुद्ध स्वर का उच्चारण करने वाला अनिष्ट का भागी होता है–

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।

पाणिनीय शिक्षा-५२

मन्त्र का प्रयोग जब स्वर अथवा वर्ण से हीन करके किया जाता है तब वह मिथ्या ढंग से प्रयुक्त हो कर उस अर्थ को व्यक्त नहीं करता, उलटे वह वाग्वज्र होकर यजमान का अनिष्ट कर देता है। शिक्षा ग्रन्थ बहुत से हैं परन्तु सम्प्रति पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा का सर्वाधिक प्रचलन है। वेदपाठी को शिक्षाग्रन्थों का अध्ययन करना अभीष्ट है।

कल्प–कल्पसूत्रों में विविध यज्ञों व संस्कारों का वर्णन है एवं मन्त्रों का अनेक कर्मों में विनियोग भी प्रतिपादित है। वृत्तिकार विष्णुमित्र के मत से कल्प वे ग्रन्थ हैं जिनमें वेदविहित कर्मों का सुव्यवस्थित रूप से वर्णन है–

'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्।'

कर्मकाण्ड के विस्तृत विधि विधानों, विविध प्रयोगानुष्ठानों, नियमोंपनियमों, सामाजिक प्रथा-परम्पराओं और लोक-आस्थाओं का संक्षिप्त एवं असन्दिग्ध रूप से प्रस्तुतीकरण ही कल्पसूत्रों का अभीष्ट है। इस समय लगभग ५० कल्पसूत्र उपलब्ध हैं जिनमें ४२ कर्मों का प्रतिपादन है–१४ श्रौतयज्ञ, ७ गृह्ययज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कार। सम्पूर्ण कल्पसूत्र-साहित्य का वर्गीकरण चार श्रेणियों में किया गया है–श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्वसूत्र।

श्रौतसूत्र श्रौत यागों पर आधारित हैं इनमें कात्यायन का श्रौतसूत्र प्रमुख है। धर्मसूत्रों में वर्णाश्रमधर्मादि का उल्लेख है। शुल्व सूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण की विभिन्न गणित एवं ज्यामिति सम्बन्धी विधियों का प्रतिपादन किया गया है। गृह्यसूत्र प्रायः गृहस्थ जीवनचर्या से सम्बद्ध हैं। इनमें गृहस्थजीवन से सम्बन्धित कर्मों का वर्णन हुआ है। इन ग्रन्थों में स्मृतियों की परम्पराओं की झलक मिलती है।

व्याकरण–व्याकरण को वेद का मुख बताया गया है। यह त्रिभुवन की ज्योति है। यदि शब्दानुशासनशास्त्र अर्थात् व्याकरण का प्रकाश संसार में न होता तो सर्वत्र अज्ञानान्धकार छा जाता–

इदमन्धं तमः कृत्सनं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।

लोकव्यवहार भाषा से चलता है और बिना व्याकरण के कोई भाषा प्रतिष्ठित नहीं होती। शब्दसाधुत्व व्याकरण का मुख्य प्रयोजन है। यदि हम व्याकरण से शोध कर शब्द का प्रयोग नहीं करते तो अपशब्द का प्रयोग करते हैं। कोई पिता अपने पुत्र से कहता है–

यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र तथापि व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्।।

वररूचि ने व्याकरण के प्रयोजन को वार्तिक ग्रन्थ में इस प्रकार निर्दिष्ट किया है–

'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्'

अर्थात् वेद की रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह व्याकरण का प्रयोजन है। वेद का वेदत्व प्रतिष्ठित रहे यही वेद की रक्षा है। 'भद्रं कर्णेभिः' में कर्णैः है या कर्णेभिः इसका पता व्याकरण से ही चलता है। ऊह का अर्थ है तर्क-वितर्क। वेद में विभिन्न प्रकार से व्यत्यय होता है, इसका ऊहापोह व्याकरण के बिना सम्भव नहीं। जो व्यक्ति व्याकरण नहीं जानता वह लिङ्गों और विभक्तियों को यथाप्रसंग नहीं बदल सकता अतः ऊह के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। इसी प्रकार आगम का ज्ञान भी शब्दशास्त्राधीन है। मन्त्रों में जनासः देवासः आदि प्रयोगों में असुक् आगम का ज्ञान 'आज्जसेरसुक्' व्याकरणसूत्र से होता है। लाघव का अर्थ है अल्प शब्दयोजना से विस्तृत अर्थ प्रदान करना। यह भी वैयाकरण ही कर सकता है। सन्देह की निवृत्ति भी व्याकरण से ही होती है यथा 'स्थूलपृषतीम्' इस प्रयोग में कर्मधारय समास है अथवा बहुव्रीहि समास, इसका निवारण स्वरज्ञान से ही सम्भव है। समस्त प्रयोजनों का मौलिभूत प्रयोजन व्याकरण है अतः सर्वप्रथम व्याकरण का अध्ययन अपेक्षित है।

निरूक्त–वैदिक शब्दकोश को निघण्टु कहते हैं और निघण्टु का निर्वचन या निरूक्ति ही निरूक्त है जैसे यास्काचार्य ने वैदिक शब्दों का निर्वचन किया है और उस ग्रन्थ का नाम निरूक्त है। प्रकरणानुसार शब्द का अर्थ ग्रहण करने की क्षमता निरूक्त के अध्ययन से ही उत्पन्न होती है। शब्द से अर्थ प्राप्त करने के पाँच तरीके हैं–वर्णागम, वर्णविपर्यय,

वर्णविकार, वर्णलोप तथा धातु के अर्थ का आधार। इसी दृष्टि से पाँच प्रकार का निरूक्त बताया गया है–

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थाभिनयेनयोगस्तदुच्यते पञ्चविधंनिरूक्तम्।।

निरूक्त का अवलोकन करने से सम्पूर्ण रहस्य स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है।

छन्द–वेदों में मन्त्र प्रायः छन्दोबद्ध हैं। छन्द के ज्ञान के बिना मन्त्रों का उच्चारण, यति-विराम का प्रयोग सुष्टु नहीं हो सकता। इसलिये छन्दशास्त्र का ज्ञान अनिवार्य है। मन्त्र के प्रत्येक चरण को अलग-अलग करके समझना तभी सम्भव है जबकि छन्द की जानकारी हो। छन्दशास्त्र का 'पिङ्गल-छन्दसूत्र' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। उस ग्रन्थ में वैदिक व लौकिक छन्दों का विवेचन है। गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुप्-जगती, ये सात छन्द हैं। गायत्री में २४ मात्राएँ होती हैं, एक मात्रा कम होने पर २३ मात्राओं का निचृत गायत्री कहलाता है। ४ मात्रा बढ़ाते जाते हैं तो जगती तक 48 मात्राएँ हो जाती हैं अर्थात् जगती छन्द में अड़तालीस मात्राएँ होती हैं। २४, २८, ३२, ३६, ४०, ४४, ४८ यह मात्राओं का क्रम है।

ज्योतिष–वेदाङ्गों में ज्योतिष का भी अपना महत्त्व है। कालगणना के लिये ज्योतिष का सहारा लेना पड़ता है। सम्वत्सर-अयन-ऋतु-मास-पक्ष-तिथि-वार-नक्षत्र आदि की जानकारी ज्योतिष-शास्त्र से ही सम्भव है। दर्श-पौर्णमास यज्ञ करने के लिये अमावस्या-पूर्णिमा का पता लगाना जरूरी है। वैसे भी ज्योतिष वेद का नेत्र है। शरीर में जो महत्त्व नेत्र का होता है वही महत्त्व ज्योतिष का है।

❋❋❋

36. जागरण

'इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति' 'दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाले विद्वान् कार्यरत मनुष्य को चाहते हैं, सोने वाले आलसी को नहीं'। वेद में ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा की गयी है जो निरन्तर कर्मशील है। वेद की आज्ञा है कि जागते रहो। मानवजाति को सावधान किया गया है कि निद्रा-आलस्य-प्रमाद उसे निष्कर्मा न बना दें। मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ होना चाहिये। उत्तम गुणों से युक्त मनुष्य को सोम कहा है, सोम का अर्थ सौम्य होता है; ऐसा व्यक्ति जिसमें कोई दोष नहीं रह गया है। सोम का अर्थ आनन्द भी है और आनन्दमग्न वही हो सकता है जो समस्त दुरितों से दूर है। यदि हम अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक हैं तो हमारी चित्तवृत्ति स्खलित नहीं होगी अर्थात् उसमें स्थिरता होगी। कर्त्तव्य व्यक्ति को योगी वनाता है। कर्मयोगी ही सोम होता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में प्रमाद (लापरवाही) के लिये स्थान नहीं होता। वैदिक सूक्तियों में विभिन्न प्रकार के जागने की वात कही गयी है–

'सोम व्रतेषु जागृहि' ऋ० ६.६१.२४

'अनिन्द्यो वृजने सोम जागृहि' ऋ० ६.८२.४

'त्वं नः सोम सुक्रतुर्वयोधेयाय जागृहि।' ऋ० १०.२५.८

'सं त्वा शिशामि जगृह्यदब्धं विप्र मन्मभिः।' ऋ० १०.८७.२४

'हे सौम्य अपने व्रतों में, नियमों में सदैव जागरूक रहो।'

'हे अनिन्द्य (निर्दोष) अपने लक्ष्य के प्रति सावधान रहो।'

'हे उत्तम कर्म करने वाले सौम्य पुरुष आयु तथा अन्न-वल आदि को धारण करने के सम्वन्ध में सावधान रहो।'

'कभी न परास्त होने वाले हे विप्र ! स्तुतियों से मैं तुम्हारी स्तुति तथा प्रार्थना करता हूँ–जागते रहो, सावधान हो जाओ।'

सामान्य रूप से जीवन में भूल-चूक होती रहती है परन्तु वेद इसके लिये स्वीकृति प्रदान नहीं करता; असावधानी सर्वथा त्याज्य है। इस उपदेश का उद्देश्य है कि मानवस्वभाव में अनायास कोई विकृति न आ जाय। एक कमजोरी होने पर वहुत-सी बीमारियाँ दौड़ती हैं; सावधानी इसलिये कि प्रगति के वाधक किसी भी दूषण का जीवन में समावेश न हो सके–

प्रतिचक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः।। ऋ० ७.१०४.२५

मन्त्र में इन्द्र तथा सोम से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्यों को जागरूकता का उपदेश करते रहें जिससे कि सब अपने कर्त्तव्यों के प्रति सावधान रहें। राक्षसों का संहार करें और दण्डनीय दुष्टों पर वज्रप्रहार करें, उन पर शस्त्र प्रयोग करें। साधन सम्पन्न को इन्द्र कहते हैं; ऐसे व्यक्तियों को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये, कहीं ऐश्वर्य के मद में विलासी न बन जाएँ। असावधानी के कारण दुष्टों का अधिकार न हो जाय और बुरी प्रवृत्तियाँ अपना प्रभाव न जमा लें। बुरों का और बुराईयों का प्रतिकार करने की क्षमता होनी चाहिये।

असावधानी के कारण ही आपत्ति का आगमन होता है। भारतवर्ष के निवासी असावधान थे तो सभी ने इन्हें अपना दास बनाया और जब इनमें चेतना आयी तो विदेशियों को खदेड़ दिया। आज भी मनुष्य प्रमादी है; उसे यह पता नहीं कि वह कितना गिर चुका है। आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार से वह पराधीन हो चुका है। हमारे देश के नागरिक तुच्छ धन के लोभ के वशीभूत होकर यहाँ विनाशलीला रच रहे हैं और जानबूझ कर इस देश के टुकड़े-टुकड़े करके दूसरों के हवाले कर देना चाहते हैं। अपराध को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान बैठे हैं। एक व्यक्ति बहुत अच्छी स्थिति में बैठा हुआ है परन्तु उसके चारों तरफ दुष्टों का जाल बिछा हुआ है तो वह अकेला उद्यमी सावधान भी हो तो क्या करेगा? राष्ट्राध्यक्ष कितने ही सचेत रहें; यदि वे नागरिकों को सावधानी नहीं सिखा सकते तो वे राष्ट्र के प्रबन्ध में कदापि सफल नहीं हो पायेंगे। वेद का उपदेश है कि स्वयं जागो और दूसरों को जगाओ। देश की जनता देश के प्रति सावधान नहीं है तो देश सुरक्षित नहीं रहेगा। सावधानी सर्वत्र अपेक्षित है, चाहे घर हो या देश। घर का स्वामी घर के प्रति उपेक्षा बरतने लगे तो घर ठीक प्रकार से नहीं चलेगा, वैसे राष्ट्रोन्नायक यदि उदासीन हो जाय तो राष्ट्र आपत्ति में फँस जायेगा। साधन चाहे जितने हों, उनके उपयोग के लिये सावधानी की आवश्यकता है। 'रयिं जागृवांसो अनुग्मन' धन-दौलत आदि ऐश्वर्य जागने वाले को प्राप्त होते हैं। विश्व की उपलब्धियाँ जागने वाले के लिये होती हैं–

यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः।।

ऋ० ५.४४.१४

'जो जागता है ऋचाएँ उसकी कामना करती हैं, साम उसे ही प्राप्त होते हैं, सोम उसका मित्र बन जाता है' ऋचा का अभिप्राय है अर्चना-स्तुति आदि। स्तुति उसकी सफल होती है जो सावधान है, साम अर्थात् उपासना का पात्र भी वही है। सोम = आनन्द भी कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को ही मिलता है बिना कर्त्तव्य को पूर्ण किये आनन्द असम्भव है। उक्त मन्त्र में स्पष्ट किया गया है कि निष्क्रिय जीवन में कोई उपलब्धि नहीं होती। साधनारत

व्यक्ति को ही स्तुति प्रार्थना-उपासना-वेदपाठ-कर्मकाण्ड आदि लाभ पहुँचाते हैं। व्यर्थ के प्रदर्शन से कुछ नहीं मिलता। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य अज्ञानवश कर्त्तव्य को छोड़कर अकर्त्तव्य अर्थात् जो उसे नहीं करना चाहिये वही करने लगता है। इस प्रकार का कार्य विपरीत फलवाला होता है। कर्त्तव्य का चयन-निर्धारण एवं पारायणपूर्ण सचेत होकर करना चाहिये। सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हमारे देश का प्रत्येक व्यक्ति कठोर परिश्रम कर रहा है परन्तु देश दिनोदिन पतन की ओर जा रहा है। इससे पता चलता है कि कोई भी सही ढंग से काम नहीं कर रहा है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि जिस देश में नागरिक जी तोड़कर मेहनत करें और देश रसातल को चला जाय। इसीलिये मन्त्र में कहा गया है कि लापरवाही की स्थिति में वेद पढ़ने से भी सफलता नहीं मिलती। जो भी कार्य किया जाय, सावधानी अपेक्षित है। व्यर्थ की टालमटोल से समय नष्ट होता है–

त्रातारो देवा अधिवोचतोता नो मा नो निद्रा ईशत मौत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमावदेम।।

ऋ० ८.४८.१४

'हे रक्षक विद्वानों हमें अधिकृत रूप से उपदेश दो। आलस्य हम पर शासन न करे और व्यर्थ की बकवास भी हमें न घेरे। सम्पूर्ण दुर्गुणों के नाशक ! हम सोम के प्रिय बनें। उत्तम वीर तथा श्रेष्ट प्रजा (सन्तान) वाले होकर सत्योपदेश करते रहें, सत्य ही बोलें।'

उक्त मन्त्र में आलस्य तथा अनर्गल वार्तालाप को छोड़ने का उपदेश किया गया है। व्यर्थ बोलते रहने से समय नष्ट होता है। बकवादी के लिये समय का कुछ भी मूल्य नहीं होता। विशेष बात यह है कि आलसी तो अपना ही समय नष्ट करता है परन्तु बकवादी जिससे बातें करता है उसको ले बैठता है अर्थात् दोहरा नुकसान करता है। ऐसे व्यक्ति से बचना ही श्रेयस्कर है। कर्मठ व्यक्ति को इतना समय कहाँ कि वह व्यर्थ की बातों में लगा रहे। वेद के अनुसार व्यर्थ बोलना हानिकर है। इस प्रकार के व्यसनों से बचने के लिये एक ही उपाय है कि काम में लगे रहो। यह भी सम्भव है कि काम करते करते थकान हो जाय और काम में मन न लगे तो फिर सबकी रक्षा की कामना करने वाले विद्वानों के सम्पर्क में जाना, उनसे उपदेश ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा। विद्वान् के साथ जितना समय बीतेगा, कर्त्तव्य की शिक्षा मिलेगी। वही व्यक्ति खाली होता है जिसे अपने कर्त्तव्य का पता नहीं होता। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिये प्रार्थना भी करनी चाहिये। ईश्वर की कृपा से हम सब सदैव कर्त्तव्यपथ पर चलते रहें और एक पल के लिये भी असावधानी न आये।

सांसारिक पदार्थों के अतिरिक्त यदि हमें परमात्मा का साक्षात्कार करना हो तो जागरणशील होना आवश्यक है। अनेक मन्त्रों में उल्लेख है कि परमात्मा की प्राप्ति जागने

वाले करते हैं। भगवत् प्राप्ति के जितने उपाय हैं उनमें सावधानी या सचेष्टता मुख्य है–

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।। ऋ० १.२२.२१

बुद्धिमान्-पुरुषार्थी-धार्मिक-विद्वान् जन द्युलोक में फैले हुए नेत्रों के समान सर्वव्यापक परमात्मा के आनन्द-मोक्ष रूपी पद को सदा देखते हैं। सूर्य के प्रकाश में ब्रह्माण्ड के ठीक-ठीक दर्शन होते हैं; वैसे ही वे परमेश्वर का दर्शन कर लेते हैं। एक अन्य मन्त्र में एक विशेष बात बताई है–

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमंपदम्।। ऋ० १.२२.२१

उस सर्वव्यापक प्रभु के मोक्ष पद को जागने वाले ही प्राप्त करते हैं। मन्त्र में संकेत है कि आत्मकल्याण भी जागरूक व्यक्ति ही कर सकते हैं। उपनिषद् की एक सूक्ति बड़ी सारगर्भित है। उसमें इसी विषय का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य मात्र को सावधान किया गया है कि हे मनुष्यों उठो, जागो, सावधान हो जाओ और श्रेष्ट पुरुषों के पास जाकर आत्मज्ञान लो, परमेश्वर को जान लो–

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। कठोप० १.३.१४

मानवजीवन के तीन आयाम हैं; ज्ञान-कर्म-उपासना। सर्वप्रथम विद्याध्ययन कर ज्ञानार्जन करना, विद्यापारङ्गत होकर कर्मक्षेत्र में उतरना और कर्म में दक्षता प्राप्त करके उपासना का अधिकार प्राप्त करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। अवान्तर कर्त्तव्य इन्हीं के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। ज्ञान या विद्या जीवन का मूलाधार है। विद्वान् को देव कहा गया है और देवता सदा जागरणशील होते हैं। विद्या की प्राप्ति एक साधना है। इस साधना को सम्पन्न करने के लिये विद्यार्थी को अपनी पूर्ण शक्ति लगानी होती है। अपनी सभी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करके शक्तिस्रोत को नियन्त्रित करना होता है अर्थात् शक्ति व्यर्थ के कार्यों में नष्ट न हो जाय केवल ज्ञान की खोज के लिये उसका उपयोग किया जाय। आज का छात्र संघ स्वयं छात्र के लिये घातक है। इसके माध्यम से बहुत-सी ऐसी योजनाएँ बनती हैं जो छात्र की प्रतिभा को कुण्ठित कर देती हैं। शक्ति तो सीमित है यदि उसे इधर-उधर के कामों में लगाया गया तो अध्ययन से विमुख होना स्वाभाविक है। यही छात्र की विद्या के प्रति उपेक्षा है। इस थोड़ी-सी असावधानी के कारण सारा जीवन दिशाहीन हो जाता है जो राष्ट्रीय स्तर पर बहुत बड़ी समस्या बन जाती है। अतः छात्र को याद रखना चाहिये–'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

❋❋❋

37. कर्मफलभोगव्यवस्था

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'–गीता

परमात्मा की व्यवस्था के अन्तर्गत जीव स्वतन्त्र रूप से अपने कार्यों को सम्पन्न करता है फिर जैसा जिसका कर्म होता है वैसा ही उसे फल मिलता है। वैदिक धर्मशास्त्र के अन्दर गिने जाने वाले सभी ग्रन्थों की यही मान्यता है कि कर्ता को अपने किये हुए कर्म का फल अनिवार्य रूप से भोगना ही होता है। विभिन्न सम्प्रदायों ने मानवजाति को धोखा देने के लिये स्वेच्छा से सरल नियम वना लिये हैं। गीता माहात्म्य में किसी ने लिखा है कि गीतारूपी गंगा जल को पीकर पुनर्जन्म नहीं होता–'गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' भागवत पुराण में प्रशंसा लिखी है कि भागवत की कथा एक सप्ताह सुनने से मुक्ति हो जाती है–'सप्ताहेन श्रुतं चैतत् सर्वथा मुक्तिदायकम्।' वाल्मीकिरामायण माहात्म्य में भी यही वात लिखी है कि इसके श्रवण अथवा पठन से सव पापों का नाश हो जाता है–'श्रवणात् पठनाद् वापि सर्वपापविनाशकृत्।' साम्प्रदायिक पुस्तकों में किसी व्यक्ति को प्रतिनिधि मानकर उसे अपराध क्षमा करने का ठेका दे दिया गया है; कुरान और वाइविल की यही स्थिति है। अवतरवाद का तो ढंग ही निराला है; राम और कृष्ण का नाम लेने से ही मुक्ति हो जाती है। यदि मुक्ति इतनी सस्ती हो जाय तो संसार दुःख क्यों भोगने लगा; थोड़ी-सी कठिनाई आते ही नाम लेकर उसे दूर किया जा सकता है। कागज की नाव से कभी कोई पार हुआ है ? अनुसन्धानकर्ता ऋषिगण इस सम्वन्ध में परामर्श करते हैं कि कोई ऐसा साधन नहीं जो कर्म के फल को निरस्त कर सके; अतः वेदोक्त तथ्य ही मानने योग्य है–

न किल्विषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सम्ममान एति।
अनूनं निहितं पात्रं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।। अथर्व० १२.३.४८

कर्मफल व्यवस्था में न तो कोई त्रुटि होती है और न कोई सिफारिश ही चलती है। मित्रों के सहयोग से भी फल नष्ट नहीं होता। कर्मो का पात्र सुरक्षित है, यह पकाने वाले को ही फिर से मिलता है। लोक में जव किसी पापी अत्याचारी को कष्ट होता है तो सव यही कहते हैं कि 'पाप का घड़ा भर गया'। जनसाधारण भी अच्छी तरह जानते हैं कि 'जैसी करनी वैसी भरनी'। किया हुआ कर्म कर्ता का पीछा करता रहता है जैसे हजारों गौओं में बछड़ा अपनी माँ को जा पकड़ता है–

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति।। महाभारत शान्ति पर्व ७-२२

किसी भी कारण से कर्मफल न्यून नहीं होता और न अधिक ही मिलता है। पात्र में जैसा और जितना भरने वाले ने भरा वैसा और उतना ही उसे मिलेगा। यह कर्मों की

खेती है जैसा बोया है वैसा काटना है। मनुष्य जब संसार को छोड़ता है तो सब कुछ यहाँ ही रह जाता है कोई भी अत्यावश्यक सामग्री साथ में नहीं ले जा सकता। केवल किया हुआ ही साथ चलता है। जीव का पाप-पुण्य मृत्यु के उपरान्त भी पीछा नहीं छोड़ता। मरने के बाद धन को कोई और ही भोगता है। शरीर को अग्नि जला देती है या पशु-पक्षी खाते हैं। जीव केवल अपने पाप-पुण्य के साथ शरीर से उत्क्रमण करता है–

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते वयांसि चाग्निश्च शरीर धातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः।।

महा० उद्योग० ४०-१६

परलोक की यात्रा बड़ी विचित्र है; अकेले को ही करनी होती है। किया हुआ कर्म ही उसका साथी होता है। मरणासन्न व्यक्ति को वेद ने सावधान किया है कि हे जीव तू किसी झमेले में मत पड़–'कृतं स्मर' अपने किये हुए को स्मरण कर। मनुष्य जब आपत्ति में होता है तो वह किसी को आञ्छन लगाता है कि अमुक के कारण यह कष्ट हुआ परन्तु उसे अपने किये का स्मरण नहीं होता। किसी विद्वान् ने लिखा है कि रोग-शोक-परेशानी-बन्धन-आपत्ति ये सब अपने द्वारा किये हुए अपराधरूपी वृक्षों के फल होते हैं, मनीषियों का ऐसा ही मत है–

रोग शोकं परिताप बन्धन व्यसनानि च।
आत्मापराध वृक्षाणां फलान्याहुर्मनीषिणः।।

कर्मफल की व्यवस्था को मनुजी ने और अधिक स्पष्ट किया है। कर्म शुभ और अशुभ भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों के मन-वाणी-शरीर भेद से पुनः तीन प्रकार के होते हैं। कर्मों की उत्तम-मध्यम-अधम ये तीन गतियाँ होती हैं–

शुभा शुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमा।। मनु० ७२-३

मनसा-वाचा-कर्मणा जैसा भी कर्म होगा वैसा ही फल मिलेगा। जिस अंग से कुचेष्टा होगी उसी को दण्ड भोगना होगा। इस विषय में ऋषियों का सुझाव है कि परीक्षण करके कर्म करो। जहाँ थोड़ी भी शङ्का हो उस कर्म का परित्याग ही श्रेयस्कर होगा। जो कार्य अपने वश में है उसमें त्रुटि नहीं होनी चाहिये। विद्वानों से कर्म की दीक्षा लेकर और शास्त्रों का आधार लेकर तब कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये। इन्द्रिय विलास हेतु कर्म होगा तो पुण्य नहीं होगा। आत्मा की आवाज को पहचान कर कर्म करने से शुभ होगा–

अव्यसश्च व्यचसश्च विलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे।। अथर्व० १९.६८.१

आत्मा और परमात्मा के भेद को जानकर, बुद्धिपूर्वक दोनों के विषय में विचार, वेद को अगुआ करके हम कर्मों को करें। कर्म की कसौटी वेद ही है। यदि वेदज्ञ का मार्गदर्शन व सम्पर्क होता रहे तो श्रेष्ठ कर्म ही होगा। किञ्चित् परीक्षण मनुस्मृति में भी उपलब्ध है–

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।। मनु० ४-१६१

'जिस काम को करने से अन्तरात्मा को प्रसन्नता का अनुभव हो, उसको करने का प्रयत्न करें, उससे विपरीत को छोड़ दें।'

कुछ लोग शंका करते हैं कि बुरा कर्म करने वाले को तत्काल फल क्यों नहीं मिलता ? इसका समाधान यह है कि कर्मों की एक शृङ्खला होती है, उसी के हिसाब से फल मिलता रहता है। वर्तमान में किया जाने वाला कार्य अभी उस क्रम के अन्तर्गत नहीं आया है। पहले कर्मों का फल माँग लेने पर उसका क्रम आयेगा। एक विद्वान् का कहना है कि घोर पाप कर्म करने पर फल तुरन्त भी मिल जाता है। कुछ कर्मों का फल कालान्तर में मिलता है और कुछ का अगले जन्म में मिलता है। एक हत्यारा कहीं तत्काल मार दिया जाता है। कोई पापी पुलिस के चंगुल में फँस जाता है तो कठोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। किसी कुकृत्य करने वाले की कुर्की हो जाती है। कोई डाकू अपने ही साथियों द्वारा मार दिया जाता है। किसी को कठोर कारावास दिया जाता है तो कोई आर्थिक दण्ड देकर छूट जाता है। बहुत से अपराधियों को मृत्युदण्ड दिया जाता है। हमारे देश में कितने ही आतंकवादी सेना द्वारा मार दिये जाते हैं। अनेकों अत्याचारी शासकों को जनता ने ही मार दिया और सत्ता पलट हो गयी। कभी-कभी दुराचारी को प्रकृति के द्वारा स्वतः ही दण्ड मिल जाता है, महामारी आदि के द्वारा सारे वंश का नाश हो जाता है। कोई भी पापी जो आज सुखी-सम्पन्न है कल वही दीन-हीन हो कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में उल्लेख है कि महापातकों से उत्पन्न घोर नरकों को भोगकर महापातकी पुनः पुनः इस संसार में दुःख से व्याप्त योनियों में जन्म लेते हैं–

महापातकजान् घोरान्नरकान् प्राप्य दारूणान्।
कर्मक्षयात् प्रजायन्ते महापातकिनस् त्विह।। याज्ञ० स्मृ० प्रायश्चित्त-२०६

सभी विद्वान् इस विषय से सहमत हैं कि बिना फल का भुगतान हुए कर्म का प्रभाव नष्ट नहीं होता। मनुष्य को पूर्वजन्म का ज्ञान नहीं है इसलिये धोखे में रह जाता है। याज्ञवल्क्य ऋषि का यही मन्तव्य है कि पापी बार-बार मरता है और जन्म लेता है। यह भी नारकीय यातना है। जब तक पाप का थोड़ा भी अंश शेष है तब तक पापी की यही दुर्दशा होती

रहती है। मनुजी का मत है कि यदि कोई अधर्म का आचरण करता है तो उसे इस लोक में शीघ्र फल नहीं मिलता जैसे पृथ्वी में बोया हुआ बीज तुरन्त फल नहीं देता। पापी पुनः पुनः अधर्माचरण करता है तो वह पाप उस पापी की जड़ों को काट देता है, उसके लिये कोई सुख का आधार नहीं रहता–

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैशवर्तमानस्तु कर्तुर्भूलानि कृन्तति।। मनु० ४-१७२

आज की दुनिया कुछ दूसरी ओर जा रही है। जनसंख्या जितनी बढ़ रही है, मनुष्य उतना ही विपरीत दिशा में जा रहा है। घोर निन्दनीय कर्म को भी पाप नहीं माना जाता, यदि पुलिस की जानकारी में आ जाता है तो अपराध अवश्य है। बड़े-से-बड़ा अपराधी भी अपने को निरपराध सिद्ध करने के लिये सबकी आँखों पर पर्दा डालना चाहता है। मनुष्य बजाय अपने को सुधारने के प्रमाणों को नष्ट करने में पूर्ण शक्ति लगा देता है। कानून की पकड़ में कम ही अपराधी आ पाते हैं। अपराधों की वृद्धि विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। कोई भी शासनतन्त्र इस का हल नहीं खोज सका है। यह एक परीक्षण है कि धर्म की उपेक्षा से अशान्ति फैलेगी। धर्मशास्त्रों का अध्ययन और मनन ही इस समस्या का सफल उपाय है। कोई भी मनुष्य भीषण अपराध (पाप) करने से नहीं डरता क्योंकि वह जानता है कि वह यदि कानून से बच जाय तो कोई भी शक्ति उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। वेद-शास्त्रों को इतना निष्प्रभावी बना दिया है कि संसार से समाप्त कर देना ही चाहते हैं। यदि दैववश कहीं औपचारिकता है भी तो उससे कुछ लाभ नहीं होता। एक व्यक्ति गीता पढ़ता है परन्तु अपने कार्यक्षेत्र में वह गीता का हस्तक्षेप सहन नहीं करता। धार्मिक स्थलों में भी शास्त्रों का उल्लङ्घन हो रहा हो तो फिर कौन विश्वास करेगा ? दण्ड विभाग भी प्रत्येक को तो सुधार नहीं पायेगा क्योंकि ओझल होने की कला सबको आती है। ऐसी स्थिति में कर्म के फल से कोई नहीं डरता। धार्मिक मान्यताओं को पिछड़ापन समझा जाता है। किसी भी खराबी को शास्त्र के प्रमाण से ठीक नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों की वासनाओं के आधार पर जीने वाला व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वह दुष्कर्मों के बन्धन में जकड़े जा रहा है। अन्य जीव एक ही इन्द्रिय के असंयम से मारे जाते हैं। मृग शब्द के आकर्षण से आखेटक के जाल में फँस जाता है। हाथी त्वचा के स्पर्श से मारा जाता है। पतङ्ग प्रकाश पर न्यौछावर हो जाता है। भौंरा सुगन्ध में लिप्त होने से मारा जाता है। मछली जिह्वा के स्वाद से मारी जाती है फिर मनुष्य क्यों न मारा जाय–

कुरङ्ग-मातङ्ग-पतङ्ग-भृङ्ग-मीना हता पञ्चमिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी सकथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च।।

38. ब्रह्मविद्या

ब्रह्माणं ब्रह्म वाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्।
'गां न दोहसे हुवे।। ऋ० ६.४५.७

अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त ब्रह्मस्तोतरूपी मन्त्रों के द्वारा वहन करने योग्य अर्चनीय सखा को कामनाओं का दोहन करने के लिये गौ की भाँति स्तुतियों के द्वारा (वेदवाणियों के द्वारा) (आवाहन करता हूँ) पुकारता हूँ।'

उक्त मन्त्र का अभिप्राय है कि जैसे गाय का दूध प्राप्त करने वाला गाय को मधुर वाणी से पुकारता है वैसे ही यदि हमें अपनी कामनाएँ पूर्ण करनी हैं तो हम भी वेदवाणी के द्वारा परमपूजनीय ब्रह्म को पुकारें, उसकी स्तुति करें। मन्त्र में कुछ तथ्य निहित हैं। हमारी कामनाएँ केवल परमात्मा द्वारा ही पूर्ण हो सकती हैं; अतः केवल उसी की स्तुति करना वेदविहित है। स्तुति के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान होता है क्योंकि ब्रह्म के गुणों का संकीर्तन करना ही स्तुति है। वेद में वर्णित गुणों के द्वारा हमें पता लग जाता है कि परमात्मा में ऐसे गुण हैं। उन गुणों की भावना करना अर्थात् प्रभु का गुणगान करना, उनको ठीक प्रकार से समझते जाना ही वास्तविक स्तुति है। ब्रह्म का अर्थ है बड़ा हुआ। संसार में हमें जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है उस सबसे बढ़कर ब्रह्म है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' कहकर विचित्र तथ्य प्रस्तुत किया है। ब्रह्म महान् से भी महान् है तो वह छोटे-से-छोटा कैसे हो सकता है ? इसका समाधान श्वेताश्वतर ऋषि ने किया है–

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६-११

'एकमात्र परमात्मदेव ही सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, समस्त प्राणियों के अन्दर रमा हुआ है, सब कामों का अधिष्ठाता है, सब भूतों का निवासस्थान है। सबका साक्षी है, स्वयं चेतनस्वरूप है और सबको चेतना प्रदान करने वाला है, सर्वथा विशुद्ध है और सत्-रज-तम इन तीनों गुणों से परे है।'

इस मन्त्र में भी परमात्मा की स्तुति की गयी है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण ही परमात्मा सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है। ब्रह्म के विषय में जान लेना आसान नहीं है। ब्रह्म विद्या संसार का सबसे बड़ा रहस्य है। जो लोग थोड़ा कुछ पढ़ लेते हैं और अपने को ब्रह्मज्ञानी बताते फिरते हैं, वास्तव में वे अन्धकार में हैं अर्थात् कुछ नहीं जानते। इसके विपरीत जो

अपने को अल्पज्ञ समझते हैं, वे ब्रह्म के विषय में अवश्य जानते हैं–

> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।। केनोपनिषद् २-३

अभिमानी को ब्रह्मविद्या नहीं आती, वह कभी भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता। उसको जानने के लिये ज्ञातापन का अभिमान छोड़ना आवश्यक है। ब्रह्मविद्या एक विज्ञान है। इस विज्ञान को जो जान लेता है वह उस प्रभु की सत्ता को समझ लेता है। परमेश्वर को जानकर ब्रह्मज्ञानी को कभी शोक नहीं होता। यह ब्रह्मज्ञान का फल है। शोकरहित रहना ब्रह्मवेत्ता का लक्षण है–

> अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
> महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। कठोपनिषद् १.२.२२

मन्त्र में ब्रह्म के विशेषण (गुण) बताये गये हैं। वह शरीररहित है फिर भी नाशवान् शरीरों में विराजमान है। वह महान् है, विभु (सर्वव्यापक) है उसी को जानो। उसे जानने से सभी प्रकार के क्लेश दूर हो जाते हैं। उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न तो बहुत लोग करते हैं, परन्तु मानवसुलभ दोषों के कारण प्रभु को प्राप्त नहीं कर पाते। जो व्यक्ति बुरे आचरण को नहीं छोड़ता, जो शान्त नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं वह ब्रह्मविद्या की उपलब्धि का पात्र नहीं है–

> नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
> नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्।। कठोप० १.२.२४

ब्रह्मविद्या इन्द्रियों का विषय नहीं है; अपितु इन्द्रियातीत है। आत्मवान् अर्थात् आत्मा को जानने वाला ही इसका पात्र है। इसको ही मधुविद्या और अग्निविद्या भी कहा गया है। श्रुति में कहा गया है 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म।।'

यजु० ४०-१७

आदित्यलोक में जो पुरुष है वह मैं ही हूँ। वह ओ३म् आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त है, वही ब्रह्म है। मनुष्य पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्यन्त ईक्षण करे। समस्त सृष्टि का स्वरूप देखकर उस रचनाकार को अनुमानप्रमाण के द्वारा जानने का प्रयत्न करे। ब्रह्म के विषय में प्रसिद्ध है कि वह आदित्यलोक में उपलब्ध होता है। पृथिवी प्रकाश्यलोक है, द्युलोक प्रकाशक है। हम लोगों की पार्थिव सत्ता है अर्थात् साधारण प्राणी केवल पार्थिव विचारधारा से अपना जीवन चलाता है, वह भोगों, सुख के साधनों तक ही सीमित रह जाता है। भोगों में लिप्त होने के कारण यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि इन सबका मूल क्या है ?

भोग अज्ञान का प्रतीक है। जो भोगों तक ही सोचता है; वह निश्चय ही अन्धकार में है, वही पार्थिव है। योगीजन आदित्य को अपना लक्ष्य बनाते हैं क्योंकि प्रकाश का साधन वही है। उनका केवल एक ही लक्ष्य होता है–'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। आत्मा का अध्यवसाय यही है कि वह अन्धकार से प्रकाश की ओर, असत् से सत् की ओर तथा मृत्यु से अमृत की ओर सतत् प्रयत्नशील है। जो प्राणी केवल शरीरस्थ हैं उन्हें आत्मा का कुछ पता नहीं चलता। इसको जानने के लिये आदित्यलोक तक पहुँचना आवश्यक है।

शास्त्रों में आदित्यलोक की बड़ी प्रशंसा की गयी है। आदित्य के द्वारा ही आत्मा को प्रकाश मिलता है। भोगी लोग भोगों के उपस्थित होने पर अपने को धन्य मानते हैं क्योंकि उनके ज्ञान का स्तर सीमित है। वे पृथिवी के उपासक हैं। पुनः जन्म लेने पर भी उन्हें पृथिवीलोक ही मिलेगा, उनकी विचारधारा भोगों तक ही रहेगी। आदित्य का उपासक कभी अन्धकार को स्वीकार नहीं करता, उसे शाश्वत प्रकाश व ज्ञान चाहिये। उपनिषद् के ऋषि ने संकेत किया है–'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।' जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्मा का तत्वज्ञान होता है वह परा विद्या है। ब्रह्म के विषय में बताया गया है कि वह ज्ञानेन्द्रियों से जाना नहीं जाता, कर्मेन्द्रियों से पकड़ा नहीं जाता, गोत्र-वर्ण-रूप-रंग और आकृति से सर्वथा रहित है। वह अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, अन्तरात्मा सब में फैला हुआ है। वही अक्षर अर्थात् अविनाशी है। वह समस्त प्राणियों का कारणरूप है। ब्रह्म अमृतस्वरूप है। उसका साक्षात्कार होने पर योगी को भूख-प्यास नहीं लगती क्योंकि वह उस अमृतत्व को प्राप्त कर तृप्त हो जाता है–

'न वै देवा अश्नन्ति न पिवन्ति एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति'।।

छान्दोग्य उप० ३.६.१

अमृतत्व का यही प्रभाव है कि उसको प्राप्त कर लेने पर संसार के किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती। ज्ञानी अपने ज्ञान से ही पूर्ण तृप्त हो जाता है। योगीजन ही आत्मदर्शन के पात्र होते हैं। ब्रह्मार्पित हो जाने पर पार्थिव शरीर दिव्य हो जाता है। उसके लिये फिर कुछ नहीं करना होता। सभी चेष्टाओं का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है। योगी के लिये कोई भी वस्तु प्राप्त करने के योग्य नहीं रह जाती। इस रहस्य को जान लेने पर उस योगी के लिये न तो सूर्य उदय होता है न अस्त होता है; उसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है–

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्।
दिवा है वास्मै भवति य तामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद।। छान्दोग्य० ३.११.३

दिन और रात्रि साधारण लोगों के लिये होते हैं। योगी के जीवन में सदैव प्रकाश ही प्रकाश रहता है। ब्रह्मविद्या के तत्त्वों का वर्णन केन उपनिषद् में मिलता है–

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।।

केनोपनिषद् ४-८

उस ब्रह्मविद्या के तपस्या-इन्द्रियदमन-कर्त्तव्य परायणता ये तीनों आधार हैं। वेद उसके अङ्ग हैं। सत्यस्वरूप परमेश्वर उसका अधिष्ठान है। सब रहस्य परमात्मा की कृपा से ही खुलते हैं। जो ऐसा जान लेता है वह सुखमयलोक में प्रतिष्ठित होता है। जो जिज्ञासु सावधान होकर अपनी बुद्धि को निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मन को रोककर पवित्र भाव में स्थित रहता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार पवित्र कर्मों का निष्काम भाव से आचरण करता है तथा अपने आपको प्रभु के प्रति अर्पित कर राग-द्वेषरहित होकर शरीर निर्वाह के लिये भोगों को भोगता है वह परमेश्वर के उस परम धाम को प्राप्त कर लेता है जहाँ से फिर लौटना नहीं होता। जो परमेश्वर भूतकाल, भविष्यत् काल, वर्तमान काल तथा सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है और जो केवल सुखस्वरूप है उस ज्येष्ठ ब्रह्म को हमारा नमस्कार है–

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। अथर्व० १०.८.१

***

39. प्रायश्चित्त

मानवजीवन अच्छे-बुरे सभी प्रकार के कर्मों का विचित्र संग्रह है। असावधानी इतनी है कि हम अपने अच्छे कर्मों को श्रेय देते हैं; बुरे कर्मों पर ध्यान नहीं दे पाते। आपत्ति आने पर प्रत्येक को अनुभव होता है कि उसने अवश्य कोई ऐसा काम किया है जिसका परिणाम भोगना पड़ रहा है। यही वह अवसर है जबकि हम अपने पापों को पूर्णतः स्वीकार कर लेते हैं और बदले में अच्छे कार्यों को करने के लिये तैयार हो जाते हैं। भूल से या जानबूझ कर कोई अशुभ कर्म हो जाय और हम अपने आपको धोखा न देते हुए उसका निराकरण करने का अर्थात् उसके बदले में कोई अच्छा काम करने का प्रयत्न करें तो हमें लगता है कि हम कर्मबन्धन से मुक्त हो रहे हैं। एक व्यक्ति ने कहीं आग लगा दी तो वह दूसरों से कितना ही छिपाये परन्तु आत्म-ग्लानि उसका पीछा नहीं छोड़ती। उसकी आत्मा बार-बार उसे धिक्कारती है और वही दृश्य बार-बार उसकी दृष्टि को घेरे रहता है। जागते सोते अशान्ति बनी रहती है। इससे उसके दूसरे कार्य भी प्रभावित होते हैं। वह जाना कहीं चाहता है और चला कहीं जाता है। बोलते-बोलते वाणी स्खलित हो जाती है, कुछ का कुछ बोलने लगता है। स्वयं अपने पर नियन्त्रण नहीं रहता। कुछ समझ में नहीं आता कि वह क्या कर रहा है ? क्यों कर रहा है ? शास्त्रों में इसका एक ही उपाय है; किये हुए को स्वीकार करना और उतना ही कोई दूसरा पुण्य कार्य करना। यह ही प्रायश्चित्त कहलाता है।

सर्वप्रथम प्रायश्चित्त को समझ लेना आवश्यक है–(प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्), शास्त्रीय कृत्य विशेष, जिसके करने से करने वाले का पाप छूट जाता है, उसकी क्षति-पूर्ति हो जाती है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। मनु जी ने प्रायश्चित्त की परिभाषा की है–

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपो निश्च संयुक्त प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।।

प्रायः का अर्थ है तप और चित्त का अर्थ है निश्चय; इस प्रकार तप और निश्चय-दोनों का नाम प्रायश्चित्त है। शास्त्रों के अनुसार प्रायश्चित्त भी एक प्रकार का तप है। तप से पाप का क्षय होता है। मनुष्य का जन्म पापों के लिये नहीं हुआ है। अपने को सब प्रकार से पवित्र रखना मानवमात्र का कर्त्तव्य है। संसार में दो प्रकार की योनियाँ होती हैं। इनमें मनुष्य कर्मयोनि है तथा अन्य प्राणी भोग योनि के अन्तर्गत आते हैं। मनुष्य की विशेषता

है कि अच्छे बुरे का विचार करने के लिये बुद्धि मिली है जिससे वह कर्मों का निर्णय करता है कि उसे क्या करना और क्या नहीं करना चाहिये। मनुष्येतर प्राणियों को विवेक नहीं मिला है। वे कुछ भी कर सकते हैं। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ तथा अपराध सम्बन्धी परिभाषाएँ तथा नियम उनके लिये नहीं हैं। पशु किसी का खेत चर जाय तो उसके लिये कोई दण्डविधान नहीं, उस पर कोई भी कानून लागू नहीं होता। शासन का संविधान मनुष्य के लिये होता है। संविधान के विपरीत आचरण करने पर वह अपराधी है। मनुष्य के अन्दर स्वार्थ व लोभ प्रबल होते हैं। इनके वशीभूत होकर पाप की प्रवृत्ति का उदय होता है। मनुष्य ही इतना समझता है कि उसने कैसा कर्म किया है। यदि मनुष्य का विवेक प्रबल होता है तो वह अपने किये पर पश्चात्ताप भी करता है और भविष्य में अच्छे कर्म करने का विचार भी बनाता है। एक बुराई की पूर्ति करने के लिये उससे अधिक अच्छाई करना ही प्रायश्चित्त है। ऐसा करने पर मनुष्य को सन्तोष होता है कि वह अब भलाई की ओर चल रहा है। आत्मा का स्वभाव है उत्तम कर्म करना परन्तु इन्द्रियों के दबाव से कोई निषिद्ध कर्म हो जाता है तो आत्मा इन्द्रियों को धिक्कारता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि पुनः उस कर्म की आवृत्ति न हो। आत्मा को सन्तोष तभी होता है जबकि वह दुष्कर्मों से दूर रहता है। पाप की थोड़ी-सी छाया रहने पर भी एक घुटन सी होती है। पहले तो यह प्रयत्न करना चाहिये कि पाप होने ही न पाये और यदि हो भी जाय तो उसका प्रायश्चित्त करके अपने को पवित्र बनाना आवश्यक है। आत्म-ग्लानि प्रायश्चित्त की जननी है। प्रायश्चित्त करने से भार कुछ कम होता हुआ प्रतीत होता है। प्रायश्चित्त करना मानव- स्वभाव भी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य ऋषि का मत है कि नित्य नैमित्तिक आदि विहित कर्मों के न करने से तथा सुरापान आदि निषिद्ध कर्म करने से और इन्द्रियों का निग्रह न करने से मनुष्य पतित हो जाता है। इसलिये शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये। इस प्रकार उसकी अन्तरात्मा और लोक भी प्रसन्न होते हैं–

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।।
तस्मात्तेनेह कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति।।

याज्ञ० स्मृति प्रायश्चित्त २१९, २२०

विहित और निषिद्ध भेद से दो प्रकार के कर्म होते हैं। विहित कर्म वे होते हैं जो करने चाहियें और निशिद्ध कर्म वे होते हैं जिन्हें नहीं करना है। करने योग्य कर्म न करना

और न करने योग्य कर्म करना, दोनों ही स्थितियों में प्रायश्चित्त का विधान है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों को वश में न करने पर भी प्रायश्चित्त करना चाहिये। कर्त्तव्य को पूर्ण न करने पर मनुष्य पतित हो जाता है और पतित के लिये केवल प्रायश्चित्त ही उपाय है। यदि न किया जाय तो क्या हानि होगी ? इसका उत्तर याज्ञवल्क्य जी देते हैं–

प्रायश्चित्तमकुर्वाणाः पापेषु निरता नराः।
अपश्चात्तापिनः कष्टान्नरकान्यान्ति दारूणान्।। याज्ञ० स्मृ० प्राय० २२१

जो मनुष्य पाप तो करते रहते हैं और प्रायश्चित्त नहीं करते, ऐसे लोग पश्चात्ताप न करने पर अत्यन्त भयंकर एवं कष्टमय नरकों में जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में प्रायश्चित्त की अनिवार्यता प्रदर्शित की गयी है। कर्मकाण्ड में थोड़ी-सी असावधानी होने पर प्रायश्चित्त अनिवार्य है। ऋग्वेद में मनुष्य को पतित करने का मूल कारण पाप को बताया गया है और उससे दूर रहने की प्रेरणा की गयी है। सबसे बड़ा प्रायश्चित्त यही है कि हम अपने अन्तःकरण को इतना पवित्र बनावें कि पाप का स्पर्श ही न हो सके–

अपेहि मनसस्पतेऽपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः।। ऋ० १०.१६४.१

वह पाप हमेशा दूर चला जाय जो हम को पतित करता है और दुःख को उत्पन्न करने वाली पाप की प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है। यदि पाप की प्रवृत्ति का उन्मूलन हो जाय तो प्रायश्चित्त की आवश्यकता ही न रहे। काम को बिगाड़ने वाले कारण को समाप्त कर देना सबसे अच्छा उपाय है। मन में बुरे विचार आते ही पाप का उदय हो जाता है; अतः ऐसे विचारों से बचना चाहिये। मन-वाणी-शरीर, इन तीनों से प्रायश्चित्त होता है। मन से बुरे विचार हटा कर अच्छे विचार लाना, वाणी से अनुपयोगी शब्द न बोलना तथा शरीर से दुःखदायी कर्म न करना ये प्रायश्चित्त के सदृश ही हैं। जो अधिक बोलता है तो मौन रहना ही उसका प्रायश्चित्त है। 'यदुलूको वदति मोघम्'–जो बहुत अधिक बातूनी है वह व्यर्थ ही प्रलाप करता है। ऐसा व्यक्ति यदि प्रायश्चित्त न करे तो वाणी अर्थहीन हो जाती है। यजुर्वेद में एक सूक्ति है–'मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय' मैं मन की कामनाओं एवं संकल्पशक्ति को प्राप्त करूँ। वाणी का सत्य मुझे प्राप्त हो। यह मन तथा वाणी का प्रायश्चित्त है। किसी अभाव की पूर्ति करना भी प्रायश्चित्त है। मन और वाणी का शाश्वत सम्बन्ध है। वाणी में सत्य का सञ्चार होने पर विचारधारा पवित्र हो जाती है। सत्य के द्वारा कामनाओं की सिद्धि होती है। पवित्रता ही मन-वाणी की सिद्धि है। मन को उचित दिशा में ले जाना बहुत बड़ा कार्य है। व्यावहारिक रूप में मन और वाणी एक-दूसरे

के पूरक हैं। वाणी सत्य को अपनायेगी तो विचारशक्ति और इच्छाशक्ति नियमित रहेगी तया मन की पवित्रता से वाणी सत्य को धारण करेगी। प्रायश्चित्त का यही भाव है। कि इन दोनों को बनावट से दूर रखा जाय। नैसर्गिक गुणों को धारण करना तप से कम नहीं है।

अव तनिक इतना विचारते हैं कि हमारा व्यावहारिक जीवन प्रायश्चित्त से कितना प्रभावित है ? त्रुटि होना स्वाभाविक है, परन्तु अपने को सर्वथा निर्दोष सिद्ध करना वहुत वड़ी त्रुटि है। ऐसी स्थिति में हम व्यावहारिक प्रायश्चित्त से वहुत दूर चले जाते हैं। हमारी ऐसी आदत वन जाय कि हम अपने आप ही छोटे से छोटे दोष को अपने ऊपर लेते हुए उसके निराकरण का प्रयास करें, अपने को वचाने से हम निर्दोष नहीं हो सकते अपितु और अधिक दोषी वन जाते हैं। कुछ महानुभाव ऐसे भी होते हैं कि दूसरे की त्रुटि के लिये स्वयं क्षमा याचना करने लगते हैं यह वहुत वड़ी शालीनता है और प्रायश्चित्त की चरम सीमा है। कात्यायन श्रौत सूत्र इसके प्रति कठोरता वरती गयी। कात्यायन का मत है कि प्रत्येक कार्य को वारीकी से ध्यान देकर करो, कार्य दोष रहित होना चाहिये फिर भी यदि भूल हो जाय तो उसे यूँ ही न छोड़ो पहले उसे सुधारो तव आगे वढ़ो। ऋषियों की यह प्रायश्चित्त की परिपाटी मानवजाति के लिये वहुत वड़ी देन है। इससे हमें अपनी भूलों को सुधारने की प्रेरणा मिलती है। इसके द्वारा अहंकार या अभिमान भी नष्ट होता है। यदि त्रुटि होने पर भी हम उसे स्वीकार नहीं करते तो पापी वन जाते हैं। भूल सुधार करने से पापों का परिमार्जन होता है। प्रायश्चित्त का यही लक्ष्य है कि मनुष्य पापों से वचा रहे। व्यावहारिक वनावट हमें अपराधों की ओर ले जाती है अतः हमें पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि और आत्मवञ्चना को दैनिक जीवन में स्थान न देकर वस्तुस्थिति की अनुभूति करें। प्रायश्चित्त करने से हम कठोर दण्डविधान से वच सकते हैं। चोर भी आत्म-समर्पण कर देता है तो उसकी सजा कम हो जाती है। यही वात सवसे अच्छी है कि हम आत्मनिरीक्षण करते रहें और प्रायश्चित्त की प्रक्रिया के द्वारा दोषों को दूर करते रहें। इस प्रकार हमारा जीवन पवित्र रहेगा। कोई भी व्यक्ति अपनी भूलों को स्वीकार कर लेता है तो उसका विश्वास वढ़ता है, आचरण शुद्ध होता है तया वास्तविकता का आदर्श बन जाता है। बनावटी जीवन किसी को उपदेश या प्रेरणा देने में असमर्थ होता है। प्रायश्चित्त में बड़ी शक्ति है। इसके द्वारा देवत्व प्राप्त हो जाता है। आत्मशोधन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

❋❋❋

40. शुद्धि

'शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः' ऋ० १०.१८.२

श्रुति का आदेश है कि याजक शुद्ध-पवित्र रहें। यज्ञ के द्वारा पवित्रता स्थिर रहती है क्योंकि यज्ञ पवित्रता का प्रेरक है। सामान्य रूप से देखने में आता है कि सभी शुद्ध रहना चाहते हैं। पशु-पक्षी भी जल में स्नान करते हैं, इस क्रिया से शायद वे भी पवित्रता का अनुभव करते हैं। प्राचीन शास्त्रों में पवित्रता को मुख्य स्थान दिया गया है। कर्मकाण्ड का पात्र वही है जो सर्वथा पवित्र है। प्रकृति की छटा में पवित्रता निहित है; ऐसा प्रतीत होता है कि पवित्रता ही रमणीयता है। पवित्रता में प्राणियों का जीवन है। वायुमण्डल जितना पवित्र होगा उतना ही सुख का अनुभव होगा। सूक्ष्म से स्थूल तक सबमें पवित्रता अपेक्षित है। जन्म होते ही गाय अपने बच्चे को चाटकर स्वच्छ कर देती है। पवित्र वातावरण में ही पवित्र कार्य होते हैं। शास्त्रों में पवित्र कर्म करने की प्रेरणा की गयी है। मलमूत्र-विसर्जन के पश्चात् कुत्ता अपने पैर से मिट्टी फैंकता है, मानो वह उसे ढकना चाहता है। कुत्ते की इस क्रिया से प्रकृति का सन्देश मिलता है कि मलमूत्र को खूला न छोड़ो। उससे प्रदूषण फैलता है। कहीं कोई पशु मर जाता है तो गिद्ध-शृगाल आदि उसको साफ कर देते हैं तथा बची हुई अस्थियों को भी कुत्ते इधर-उधर ले जाते हैं; यह प्राकृतिक स्वच्छता की व्यवस्था है। मरा हुआ पशु यदि सड़ जाय तो बहुत प्रदूषण फैल जाय जिससे विविध प्रकार की बीमारियाँ हो सकती हैं। प्रदूषण किसी भी तरह का हो, शुद्धता का विरोधी है। आयुर्वेद सम्बन्धी स्वस्थवृत्त में इसी प्रकार की छोटी-छोटी बातें बतायी गयी हैं। भोजन के लिये स्थान पवित्र हो। हाथ-पैर धोकर भोजन किया जाय। शाक-सब्जी को प्रयोग करने से पहले अच्छी तरह धो लिया जाय अन्न को साफ करके प्रयोग किया जाय। पानी को उबाल कर व छान कर पिया जाय। जिस स्थान पर बैठो पहले उसे बुहारी से साफ कर लो। क्षौरकर्म (हजामत) करते समय कैंची आदि को साफ कर लेना चाहिये। हाथों को बिना धोये मुँह पर तथा आँखों पर मत लगाओ। चोट लगने पर उसे खुला न छोड़ो। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि किसी भी प्रकार का प्रदूषण नहीं फैलना चाहिये। वात-पित्त-कफ में से एक भी विकृत या दूषित हो जाय तो शरीर का नाश हो जाता है अतः त्रिदोष को सम एवं सौम्य रखना चाहिये। माता स्नान करके तथा स्वच्छ वस्त्र पहनकर बच्चे को अपना दूध पिलावे। मिथ्या आहार-विहार से भी दोष उत्पन्न होते हैं जो व्याधि का कारण बनते हैं। इस प्रकार की असावधानी से शरीर सदैव दूषित रहता है। ऐसे वैद्य से भी चिकित्सा नहीं करानी चाहिये जो मैला कुचैला रहता हो। सभी शास्त्रकारों ने शुद्धता को श्रेय-प्राप्ति का साधन बताया है।

शुद्धि अनेक प्रकार की होती है। स्थूल विचारधारा वाले लोग प्रायः शारीरिक साज-सज्जा को ही सब कुछ मान लेते हैं। सर्वप्रथम बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से शुद्धि दो प्रकार की होती है। बाह्य शुद्धि के अन्तर्गत शारीरिक मार्जन-स्नानादि के अतिरिक्त वातावरण तथा हमारे सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों और पदार्थों की शुद्धि भी ग्राह्य है। जो भी हम से सम्बन्ध रखता है उससे पवित्रता की अपेक्षा की जाती है। जहाँ भी हम रहते हैं वहाँ साफ-सुथरा होना चाहिये। शरीर की पवित्रता के पश्चात् आन्तरिक शुद्धि की बात आती है। इसके अन्तर्गत मन, बुद्धि और आत्मा का समावेश है। इनको शुद्ध करने की विधि मनु जी बताते हैं–

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति।। मनु० ५.१०६

जल से शरीर की, सत्य से मन की, विद्या व तप से आत्मा की और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है। केवल नित्य स्नान करने से ही काम नहीं चल जाता। सर्वाङ्गशुद्धि के लिये सत्य बोलना, सत्य व्यवहार करना, सत्य को ही धारण करना, विद्यार्जन करना, तप करना तथा ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने मन की पवित्रता के सम्बन्ध में बताया है कि जिस स्थिति में परमात्मा को प्राप्त करने के उद्देश्य से जप-ध्यानादि द्वारा मन्थन किया जाता है और प्राणायाम की क्रिया द्वारा प्राण को वश में किया जाता है; जहाँ आनन्द ही आनन्द प्रकट होता है, उस समय मन सर्वथा शुद्ध हो जाता है–

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरूध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः।। श्वेताश्वतरोपनिषद् २-६

मनु जी ने शुद्धि के कतिपय साधनों को गिनाया है कि ज्ञान-तप-अग्नि-आहार-मिट्टी-मन-जल-लिपाई-वायु-कर्म-सूर्य-समय ये शुद्धि के साधन हैं। व्यावहारिक जीवन में धन का उपयोग करना होता है। मनु जी का कहना है कि धन की शुद्धि सबसे पहले होनी चाहिये। सब प्रकार की शुद्धियों में अर्थ की शुद्धि सबसे बढ़कर है। जो धन कमाने में पवित्र है; वही वास्तव में पवित्र है। मिट्टी अथवा जल की शुद्धि वास्तविक शुद्धि नहीं है–

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परे स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।। मनु० ५-१०६

विविध पदार्थों की शुद्धि मनु जी की दृष्टि में–सुवर्ण आदि चमकदार धातुओं, हीरा-मणियों और पत्थर से बनी सब वस्तुओं की शुद्धि राख, जल और मिट्टी से होती है। सोने-चाँदी की शुद्धि जल के साथ-साथ अग्नि से भी होती है। ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, टिन और सीसे से बने बर्तनों की सफाई खारे-खट्टे जलों से होती है। तरल पदार्थों को छानकर,

ठोस पदार्थों को पोंछकर और काष्ठनिर्मितों को छील कर शुद्ध करें। यज्ञ के पात्रों को हाथ से मांज कर पानी से धोना चाहिये। चिकने पात्र उष्ण जल से साफ होते हैं। चमड़े और बेंत से बनी हुई वस्तुओं की शुद्धि वस्त्रों की तरह होती है। घास-फूँस व काठ जल के छींटें से शुद्ध होता है। घर को बुहारने व लीपने से तथा मिट्टी के बर्तन को दुबारा पका कर शुद्ध करते हैं। मिट्टी के बर्तन से यदि शराब-मल-मूत्र-थूक-पीप-रक्त का स्पर्श हो जाय तो उसकी शुद्धि नहीं होती। भूमि की शुद्धि बुहारने-लीपने-जल छिड़कने, छीलने और गायों के रहने से हो जाती है। कारीगर का हाथ, दुकान में बेचने के लिये रखे गये पदार्थ तथा ब्रह्मचारी को दी गयी भिक्षा नित्य शुद्ध हैं।

भौतिक जगत् के उपयोग के लिये शुद्धि की विश्वसनीयता अनिवार्य है; हम उसी पदार्थ की कामना करते हैं जो शुद्ध हो क्योंकि शुद्ध से शुद्ध विचार बनते हैं। भोजन करते समय भोज्य पदार्थों के साथ-साथ भावनाओं की शुद्धि भी अपेक्षित है, इससे भोजन गुणकारी होता है। हमारे अन्तःकरण की शुद्धि हमें परमेश्वर तक पहुँचा देती है। किसी कार्य को करते समय मन और बुद्धि का योग तभी सम्भव है जबकि दोनों पवित्र हों। परमात्मा शुद्ध है अतः उसकी उपासना शुद्ध स्तोत्रों से, शुद्ध हृदय से तथा पवित्र वचनों से की जाती है, तब वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। परम पावन परमेश्वर का आश्रय ग्रहण करने पर पवित्र प्रेरणा होगी और हम पवित्र कार्य करेंगे। पवित्र कार्यों के सम्पादन से हम सदैव पवित्र रहेंगे। एक मन्त्र में ऐसी ही प्रार्थना की गयी है–

इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धो रयिं नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्यः।। ऋ० ८.९५.८

'हे इन्द्र आप शुद्ध हैं हमें आकर सहारा दें। पवित्र; आप अपनी निर्दोष रक्षण आदि क्रियाओं से हमारा हाथ पकड़ें। शुद्ध ऐश्वर्य को धारण करायें। हे सोम्य ! (सोम गुण युक्त) मेरे आत्मन्। अविद्यादि दोषों से रहित होकर तू आनन्दित हो।'

उक्त मन्त्र में शुद्ध आत्मा को पावन परमात्मा से संयुक्त करने की बात कही गयी है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलने वाला मनुष्य शुद्धि के रहस्य को समझ लेता है, जितना ही वह शुद्ध होता जाता है उतना ही आनन्द भोगता है। जिसका आत्मा शुद्ध होता है वही वास्तव में शुद्ध है। शुद्ध अन्न-जल-वायु-औषधि आदि का सेवन करने से रस-रक्त भी शुद्ध होगा। प्राणायाम से प्राण की शुद्धि होती है जिससे इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि शुद्ध होते हैं। थोड़ा भी अभक्ष्य पदार्थ का सेवन करके मनुष्य अपवित्र हो जाता है। उसकी विचारधारा कलुषित हो जाती है। ऐसा व्यक्ति कभी अच्छा सोच सके बहुत कम सम्भावना है। अविद्या के कारण भी शुद्धता की परख नहीं हो पाती। सबसे पहले अपने रहन-सहन और खान-पान को सुधार कर ही हम शुद्धता को धारण कर पायेंगे। यह शुद्धि का मूलमन्त्र है। 'आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः'

आहार शुद्ध होने पर विचार शुद्ध होते हैं। विशेषकर छात्रों के लिये अभक्ष्य का सेवन हानिकारक है, उन्हें पदे-पदे बाधा प्रस्तुत होगी और अपने पूर्ण लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेंगे। स्मृतिवर्धक औषधियों का सेवन करके स्मृति को पुष्ट किया जा सकता है परन्तु उससे पहले अभक्ष्य का परित्याग आवश्यक है। आचरण की शुद्धि से कर्मों की शुद्धि हो जाती है। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा को पूरा करना, समय का पालन करना, अपने वचन की रक्षा करना, आरम्भ किये हुये कार्य को पूर्ण करना, ये आचरण की शुद्धता के प्रतीक हैं। शुद्ध आचरण वाला व्यक्ति सबका विश्वासपात्र होता है और समाज से अनेक प्रकार का लाभ प्राप्त करता है, अपने सभी अंगों की शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये; किसी भी अंग से कुचेष्टा करने पर वह अंग अपवित्र हो जाता है। जो व्यक्ति एक बार चोरी कर लेता है फिर उसे संकोच नहीं होता और बड़ी-से-बड़ी चोरी आसानी से कर सकता है। शुद्धि के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द लिखते हैं–'नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रखें क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। शौच उतना करना योग्य है जिससे मल-दुर्गन्ध दूर हो जाय।'

स्नान करने से शरीर शुद्ध होता है परन्तु इतना स्नान करें जितना आवश्यक हो। जो पदार्थ थोड़ा भी नशीला हो उसका सेवन नहीं करना चाहिये। मांसाहार से हिंसक स्वभाव बनता है और मनुष्य क्रूर हो जाता है। स्वभाव में विकृति न आ जाय इसके लिये शुद्ध कमाई का ध्यान रहे। व्यवसाय में थोड़ी हेरा-फेरी करने से पूरा परिवार उस रोग से ग्रसित हो जाता है। घूँसखोर की आय बढ़ती है तो वह संयम खो बैठता है और अनावश्यक चीजें घर में लाने लगता है। परिणामस्वरूप पत्नी तथा बच्चों की माँगें बढ़ती जाती हैं और उन्हें पूरा करने के लिये वह अधिक घूँस लेने लगता है। फिर वह फिजूलखर्ची का शिकार बन जाता है और एक दिन इतना बड़ा अपराधी बन जाता है कि उसे कठोर दण्ड दिया जाता है। इसलिये कभी भी अपवित्र धन घर में नहीं आना चाहिये। अपने दैनिक जीवन में शुद्धि का ध्यान रखना चाहिये।

ऋग्वेद में संकेत किया गया है कि जो पवित्रता को धारण करते हैं और वेदवाणी का आश्रय लेते हैं, परमात्मा उनके व्रत की रक्षा करता है–

पवित्रवन्तः परिवाचमासते पितैषां प्रत्नो अभिरक्षति व्रतम्। ऋ० ९.७३.३

ईश्वर की कृपा से पवित्रता की रक्षा होती है। इसके लिये वेदवाणी का आश्रय लेना आवश्यक है। परमात्मा के आदेश का पालन हमें पवित्रतम बना देता है। नित्य पवित्रता की रक्षा करने से मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है। अतः अपने पर थोड़ा भी सन्देह होने पर तत्काल शुद्धि कर लेना हमारा कर्त्तव्य है।

❋❋❋

41. वैदिक सृष्टिविज्ञान

परमात्मा के द्वारा किये गये कार्यों का पता लगाना, उसकी सृष्टि के रहस्य को समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। मानवमस्तिष्क की सीमा है और परमात्मा असीम है; अतः असीम की खोज तो की जा सकती है परन्तु 'यह इतना ही है' ऐसा कहना कठिन है। सृष्टि के साथ प्रलय भी लगी हुई है। यदि हम सृष्टि के विषय में जानना चाहें तो प्रलय पर भी विचार करना होगा। सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का क्रम शाश्वत है। प्रलय में भौतिक पदार्थों का स्वरूप लुप्त हो जाता है। आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी ये सब अपने मूल कारणों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) में अन्तर्भूत हो जाते हैं। सत्-रज-तम ये तीनों गुण साम्यावस्था में अदृष्य हो जाते हैं यही मूल प्रकृति का स्वरूप है। इस प्रक्रिया के दर्शन अलग-अलग रूप से प्रस्तुत करते हैं। प्रलय का दृश्य ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६ में चित्रित किया गया है जो जिज्ञासुओं के लिये अवलोकनीय है। प्रलयकाल में सृष्टि के कारणों का लय होना ही विनाश कहलाता है, वे सब निष्क्रिय हो जाते हैं, उनसे कोई काम नहीं लिया जा सकता और न उनका अनुभव ही किया जा सकता है। उस अवस्था में न कोई द्रष्टा होता है और न कोई दृश्य; इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह क्या है ? कैसा है ? इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का एक मन्त्र प्रस्तुत है–

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्।।

ऋ० १०.१२६.१

कार्य सृष्टि से पूर्व न अभाव था न भाव ही था, न कोई परमाणु था, न आकाश था। यह भी पता नहीं कि आवरण क्या था और आधार क्या था ? अत्यन्त कठिनाई से जानने योग्य गहन रूप जल कैसा था यह भी पता नहीं। उस काल की विचित्रता यह है कि भावाभाव कुछ भी नहीं था। कोई पदार्थ मूर्तरूप में नहीं था इसलिये भाव नहीं कहा जा सकता और कुछ अवश्य था अर्थात् सृष्टि का मूल कारण तो था ही इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ भी नहीं था अतः उसे अभाव भी नहीं कहा जा सकता। वह अनिर्वचनीय अवस्था थी। उसका वर्णन नहीं किया जा सकता सब कुछ अन्धकार से आवृत था। उस समय जल तो था परन्तु उसका कोई लक्षण या चिन्ह प्रकट नहीं हो रहा था जिससे पहचाना जा सके कि वह क्या था। मनु जी ने भी ऐसा ही लिखा है–

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः।। मनुस्मृति १-५

यह जो कुछ दिखाई दे रहा है वह कभी अन्धेरा ही अन्धेरा सा था, 'यह क्या है ?' कुछ भी ज्ञात न था। जानने का कोई साधन इन्द्रियादि (लक्षण) भी न था। तर्क (बुद्धि) की वहाँ एक न चलती थी, सब कुछ सोया हुआ सा था।

श्रुति से सारे रहस्य खुलते हैं परन्तु उसमें ही यह लिखा है कि कोई भी इस रहस्य को नहीं जानता, न कोई बता सकता है कि कहाँ से यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई ? देवता अर्थात् विद्वान् भी रचना के बाद के हैं। अतः कोई नहीं जानता जहाँ से यह संसार उत्पन्न हुआ–

को अद्धा वेद कइह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।

ऋ० १०.१२६.६

अब एक प्रश्न उठता है कि सृष्टि का निर्माण क्यों हुआ ? यदि ईश्वर ने सृष्टि बनायी तो उसका क्या प्रयोजन था ? ईश्वर को सृष्टि की क्या आवश्यकता थी ?

इस सम्बन्ध में वेद में प्रमाण है–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋ० १०.१२६.४

संकल्प या कामनारूप में सृष्टि का बीज वा कारण था। तैत्तिरीय उपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक-६ में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है–'सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सतपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदि दं किं च।'

उस परमेश्वर ने विचार किया 'मैं प्रकट होऊँ और बहुत हो जाऊँ।' उसने तप किया अर्थात् अपने संकल्प का विस्तार किया। संकल्प का विस्तार करके इस दृश्यमान जगत् की रचना की। सृष्टि के प्रयोजन का वर्णन स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में किया है–

'उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने ही से सफल है। जैसे नेत्र का स्वाभाविक गुण देखना है वैसे परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सबको असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।'

–सत्यार्थ प्रकाश अष्टम समुल्लास-सृष्टि उत्पत्ति

समस्त जीवों के उपकारार्थ सृष्टि की रचना परमेश्वर ने की, वह ही केवल सृष्टि का रचयिता है; यह प्रमाण वेद में मिलता है। अथर्व वेद काण्ड १० सूक्त ७ मन्त्र ८ में स्पष्ट उल्लेख है कि जो उत्तम माध्यम और नीच स्वभाव का ऊपर, नीचे और मध्य का जगत् है, उस सबकी रचना प्रजापति परमेश्वर ने की है–

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।

जगत् की रचना के तीन कारण हैं–एक निमित्त कारण, दूसरा उपादान कारण तथा तीसरा साधारण कारण। इनमें से निमित्त कारण परमेश्वर है, सब कुछ उससे ही प्रेरित होकर चेष्टायुक्त या गतिमान होता है। दूसरा उपादान कारण प्रकृति है जिसका रूपान्तरण जगत् है। प्रकृति ही वह सामग्री है जिससे रचनाकार रचना करता है। तीसरा साधारण कारण सहयोगी रूप में होता है। इस सन्दर्भ में कुम्भकार का उदाहरण उपयुक्त होगा। कुम्भकार मिट्टी के भाण्डे बनाता है, वह निमित्त कारण है। यदि वह बनायेगा नहीं तो सब सामान धरा रह जायेगा और कुछ भी नहीं बनेगा। मिट्टी के भाण्डे बनते हैं अतः मिट्टी उपादन कारण है। मिट्टी न हो तो कुछ भी न बने। तीसरा दण्ड-चक्र आदि साधारण कारण है। सांख्य दर्शन के अनुसार ईश्वर केवल प्रेरक है। वह एक ही बार ईक्षण करता है फिर प्रेरित प्रकृति स्वतः कार्यरत रहती है। ऐतरेय ऋषि के अनुसार सर्वप्रथम पर ब्रह्म ही था; उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। उसने विचार किया कि मैं लोकों की रचना करूँ। फिर उसने विभिन्न लोकों की रचना की। एक पुरुषाकृति बनायी और उसमें अंग एवं इन्द्रियों को बनाया तत्पश्चात् अग्नि-वायु-आदित्य-दिशाएँ-औषधि-वनस्पति-चन्द्रमा-मृत्यु-जल आदि का सृजन किया। वेद के अनुसार सर्वप्रथम परमात्मा रूपी पुरुष प्रकट हुआ, उसके विभिन्न अंगों से सृष्टि का निर्माण हुआ–

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत।।
नाभ्यासीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोः द्यौः समवर्तत।
पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।। ऋ० १०.९०.१३, १४

मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, मुख से विद्युत् व अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से आकाश, पैरों से भूमि, कानों से दिशाओं और लोकों की कल्पना की गयी है। यह एक रूपक है क्योंकि परमात्मा का कोई आकार नहीं है। वेद में उसे सहस्रशीर्षाः सहस्राक्षः (हजारों सिरों वाला, हजारों आँखों वाला, सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा) कहा गया है। एक बात ध्यान देने योग्य है कि जैसी पाश्चात्य जगत् में भ्रान्ति है (बन्दर की पूछ घिस गयी तो मनुष्य बना) ऐसी कोई बात नहीं है। सृष्टि में सभी प्राणियों की रचना मूलरूप से हुई है। ऐसा नहीं कि कोई जीव बहुत बड़ा हुआ, बाद में घिसते-घिसते कोई दूसरा छोटा जीव बन गया और पहला वाला संसार से लुप्त हो गया। यदि बन्दर से आदमी बने तो बन्दर लुप्त हो जाने चाहिये थे या किसी दूसरी प्राणी से इनका निर्माण होता अतः बन्दर से आदमी वाला तथ्य वैज्ञानिक नहीं है। वेद में प्रमाण है कि उस परमात्मारूपी पुरुष से उड़ने वाले पक्षियों,

जंगल में रहने वाले सिंह आदि तथा पालतू पशुओं की रचना हुई। उससे ही अश्व तथा दोनों ओर दांतों वाले प्राणियों, गाय, बकरी, भेड़ों आदि का सृजन हुआ–

पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्रम्याश्च ये।।
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो हजज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः।। ऋ० १०.९०.८, १०

महर्षि पिप्पलाद ने सोलह कलाओं वाले पुरुष की रचना के सम्बन्ध में संकेत किया है कि सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म पुरुष ने विचार किया कि 'इस ब्रह्माण्ड में कौन-सा ऐसा तत्त्व डाला जाय जिसके रहने पर मैं रहूँ और न रहने पर न रहूँ, न दिखायी दे सकूँ अर्थात् मेरी सत्ता का स्पष्ट रूप से पता न चले।' ऐसा विचार कर सर्वप्रथम प्राणरूप हिरण्यगर्भ की रचना की। प्राण के रहने पर शरीर सभी क्रियाओं को सम्पन्न करने में समर्थ होता है और शरीर में जब प्राण नहीं रहता तो निर्जीव हो जाता है, मृत शरीर का कोई मूल्य नहीं, कोई उपयोगिता नहीं। प्राण के माध्यम से ही ईश्वर का साक्षात्कार किया जाता है। प्राण की रचना के पश्चात् शुभकर्म में प्रवृत्त होने वाली श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) को प्रकट किया फिर शरीर के उपादान कारण आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वी इन पञ्चमहाभूतों की रचना की। तत्पश्चात् अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) को बनाया। तदन्तर विषयों का ज्ञान करने के लिये इन्द्रिय समूह (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ) का निर्माण किया। इन्द्रियों को पुष्ट करने तथा शरीर को प्रतिष्ठित करने हेतु अन्न का उत्पादन किया। अन्न के परिपाक से बल तथा बल को नियन्त्रण में रखने के लिये और अन्तःकरण व इन्द्रियों के संयम रूप तप को रचा। उपासना के लिये मन्त्रों को प्रकट किया। कर्मेन्द्रियों के लिये कर्म का विधान किया। कर्म के परिणामस्वरूप लोकों को बनाया, इसीलिये प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही लोक उसे प्राप्त होता है। मनुस्मृति के अनुसार परमेश्वर ने उपादान कारण प्रकृति से विविध सृष्टि बनायी। सर्वप्रथम अप्तत्त्व की रचना की और उसमें बीज बोया। वह अप् तत्त्व हिम सा शुभ्र, सूर्य सा चमकीला अण्ड कहलाया। सब लोकों के आदि पिता परमेश्वर ने स्वयं उसमें प्रादुर्भाव या प्रजनन किया। सृष्टि के पूर्व कोई तेज अवश्य था ऐसे प्रमाण सर्वत्र मिलते हैं। सृष्टि का आरम्भ हिरण्यगर्भ से हुआ–

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्यजातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।। ऋ० १०.१२१.१

❋❋❋

42. दिव्यशक्ति

बलं धेहि तनूषु नो बलमिन्द्रानडुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीव से त्वं हि बलदा असि।। ऋ० ३.५३.१८

''हे इन्द्र, ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर ! हमारे शरीरों में, गाय-बैल में बल धारण कराओ। हमारे पुत्र-पौत्रादि के जीवन के लिये बल प्रदान करो क्योंकि तुम बल दाता हो।'

परमेश्वर सर्वशक्तिमान है। मनुष्य में शक्ति है पुरन्त वह परमेश्वर से प्राप्त होती है। उक्त मन्त्र में परमात्मा को बलदा कहा गया है। किसी बलवान मल्ल को अभिमान न हो जाय इसलिये इस रूप में परमात्मा का स्तवन किया गया है। सकल ब्रह्माण्ड में विभिन्न रूपों में दिव्य शक्तियाँ हमें जीवन प्रदान कर रही हैं जिनका हम हिसाब नहीं लगा सकते। वेद में उन शक्तियों को अनेकों नामों से पुकारा गया है। यद्यपि उनकी संख्या निर्धारित नहीं है फिर भी यत्र-तत्र संख्या का उल्लेख मिलता है। एक मन्त्र में इक्कीस तत्त्वों के द्वारा बल प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है–

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे।। अथर्व० १.१.१

मन्त्र में तीन गुणा सात तो स्पष्ट हैं परन्तु यह नहीं निश्चित किया गया है कि वे तत्त्व कौन-से हैं ? तीन से सत्व-रज-तम का संकेत है, ये प्रकृति के गुण हैं, इनसे ही सृजन होता है इसलिये संसार इनसे प्रभावित है। प्रकृति के बाद महत्तत्व अहंकार तथा पाँच सूक्ष्म भूत या तन्मात्राएँ (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) मिलकर सात हो जाते हैं। इन सातों की तीन अवस्थाएँ होने से इक्कीस बन जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ५ महाभूत ५ प्राण ५ ज्ञानेन्द्रियाँ ५ कर्मेन्द्रियाँ १ अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) ये इक्कीस तत्त्व हमारे जीवन को चलाते हैं। ये अनेकों रूपों को धारण करते हैं और बल प्राप्ति के साधन हैं। एक अन्य मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि अग्नि से दिया हुआ यह वर्चस् पापनाशक तेज यश सहनशीलता ओज कान्ति आयु बल सब ओर से प्राप्त हुए हैं और जो तैंतीस सामर्थ्य हैं उन्हें ज्ञानस्वरूप परमात्मा मुझे प्रदान करे–

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्।
त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्रददातु मे।।
अथर्व० १९.३७.१

यहाँ तंतीस तत्त्वों का उल्लेख है जो पूर्व संख्या (इक्कीस) से भिन्न हैं। आठ वसु, ग्यारह रूद्र, वारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति ये ३३ देवता या शक्तियाँ हैं। इनके सम्वन्ध में विद्वान् एकमत हैं। दिव्यशक्तियों के विषय में शाकल्यविदग्ध ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा कि देवता तीन हैं, तीन सौ हैं अथवा तीन हजार तीन हैं ? इस पर याज्ञवल्क्य ने वताया कि ये तो इनकी महिमाएँ हैं; देवता केवल तंतीस हैं।

वसु = अग्नि पृथिवी वायु अन्तरिक्ष आदित्य द्युलोक चन्द्रमा और नक्षत्र। इनमें सव कुछ स्थित है इसलिये वसु हैं, ये सवको वसाते हैं।

रूद = प्राण-अपान-व्यान-समान-उदान-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त-धनञ्जय ये दस प्राण तथा एक आत्मा (अथवा दस इन्द्रियाँ एक मन) जव ये शरीर से उत्क्रमण करते हैं, वाहर होते हैं तो रूलाते हैं इसलिये इन्हें रूद्र कहते हैं।

आदित्य = वारह मास ही आदित्य हैं ये सवका ग्रहण करते हैं इसलिये आदित्य हैं।

विद्युत इन्द्र और यज्ञ प्रजापति है।

चहुँमुखी विकास के लिये ये प्राकृतिक शक्तियाँ वड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं। वेद में सव प्रकार के सामर्थ्य का आधार ईश्वर को ही माना गया है। प्राणशक्ति का, बल का, साहस का, सहनशक्ति का, विजय का, राष्ट्र के पोषण व सौ वर्ष के जीवन का कारण परमात्मा को ही माना जाता है–

ऊर्जे त्वा वलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय।। अथर्व० १६.३७.३

परमेश्वर की शक्ति को समझने के लिये अत्यन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है। श्रुति केवल मार्गदर्शन करती है और तदनुकूल पुरुषार्थ करके ही कुछ प्राप्त होता है। मात्र प्रार्थना से मनोरथ पूर्ण नहीं होता। शक्ति को अर्जित करने के लिये अवस्था विशेष तथा समय की अवधि निर्धारित हैं। जरावस्था में कितनी ही प्रार्थना की जाय परन्तु शक्ति का सञ्चय सम्भव नहीं क्योंकि उस अवस्था में अंग प्रत्यग शिथिल व सामर्थ्यहीन हो जाता है। शरीर में उद्यम करने की क्षमता नहीं होती अतः प्रार्थना एक विडम्वना वनकर रह जाती है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अवलोकन से पता चलता है कि व्रह्मचर्य काल या यौवन काल ही शक्ति का भण्डार होता है। उस समय मन चाहा सामर्थ्य उत्पन्न किया जा सकता है। युवावस्था में किया हुआ प्रयास पूर्ण सफल होता है। व्रह्मचारी का यज्ञोपवीत किया जाता है तो वह दोनों

हथेलियों को अग्नि में तपा कर परमात्मा से प्रार्थना करता है–'हे अग्निदेव तुम देहरक्षक हो, मेरे शरीर को सदैव स्वस्थ व नीरोग रखो; तुम आयुवर्धक हो मुझे दीर्घायुवाला बनाओ; तुम वर्चस्वी हो मुझे वर्चस्वी बनाओ। मेरे शरीर में जो कमी हो उसकी पूर्ति करो। सविता देवता, सरस्वती देवी तथा मालाधारी अश्विनी मुझे मेधावी बनावें'–

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।।
मेधां मे देवः सविता आदधातु।
मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु।
मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ।। –पारस्कर गृ० सू० २-४-७, ८

एक ब्रह्मचारी इस प्रार्थना के अनुसार अपने आप को बना सकता है; इस प्रार्थना का पात्र वही है। प्रार्थना करने का अधिकार सबको है परन्तु प्रार्थना के अनुकूल कर्मकाण्ड भी होता है। जो हमसे होना सम्भव नहीं तो वैसी प्रार्थना भी करनी ठीक नहीं। जिस व्यक्ति के हाथ-पैर भी न उठते हों और शरीर में कम्पन होता हो तो उक्त मन्त्रों के पाठ से क्या उसकी दशा परिवर्तित हो जायेगी ? पुष्टिकारक एवं शक्तिवर्धक पदार्थ मन्दाग्नि रोग से पीड़ित व्यक्ति के लिये हानिप्रद सिद्ध होंगे। इस दिशा में अनुकरण भी उचित नहीं है इससे धोखा हो सकता है। एक व्यक्ति जल से भी शक्ति सञ्चित कर लेता है जबकि दूसरा घी-दूध से भी नहीं कर पाता। संसार परमात्मा से बहुत कुछ माँगता है। मदिरापान करने वाला भी शायद बुद्धि की याचना करता होगा, परन्तु क्या वह उसका पात्र है ? अतः शक्तिमान् से शक्ति प्राप्त करने की पात्रता अनिवार्य है। एक व्यक्ति जो योगासन प्राणायाम करता है; ऋतुचर्या एवं दिनचर्या का पालन नियम से करता है; स्वास्थ्य के प्रतिकूल कोई भी कार्य नहीं करता है, यही उसकी सच्ची प्रार्थना है, उसे परमात्मा अवश्य ही शक्ति प्रदान करेगा। ब्रह्मचर्य का पालन करने से भी स्वतः शक्ति प्राप्त होती है तथा प्रार्थना से और अधिक प्रेरणा मिलती है। नियम-व्रत आदि शक्ति प्राप्ति के साधन हैं, इनका पालन करने वाला ही प्रार्थना करने का अधिकारी है।

दूसरी बात काल की है। सूर्य से दीर्घायु की प्रार्थना कर रहे हैं तो उस समय सूर्योदय होना चाहिये। रात्रि में यदि ऐसी प्रार्थना की जायेगी तो तारे और चन्द्रमा सूर्य का काम नहीं करेंगे। यदि यह तर्क दें कि प्रार्थना तो परमात्मा से कर रहें हैं और परमात्मा सबका

अधिष्टाता है वह सब कुछ कर देगा, यह सोचना भ्रान्ति है। 'हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय' इस प्रार्थना से तब तक लाभ नहीं होगा जब तक सूर्य दर्शन न किया जाय। सूर्य की किरणों से हृदयरोग और पाण्डुरता का नाश होता है अतः किरणों का सेवन करना ही सही उपचार है। चन्द्रमा आनन्दित करता है इस सम्बन्ध में यदि प्रार्थना करनी है तो चन्द्रमा की उपस्थिति में करनी उचित है। यदि हम प्रातःकालीन ऐश्वर्य की इच्छा करते हैं तो उषाकाल में ही की जानी चाहिये। धन मिलता है धनी से और प्रार्थना निर्धन से करने लगें तो क्या धन मिल सकता है ? इसके विपरीत जहाँ धन का दान दिया जा रहा हो वहाँ उसी समय जाने से धन की अभिलाषा पूर्ण होगी। निरुद्यमी-आलसी व्यक्ति सब कुछ जानते हुए भी कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकता। आत्मिक और शारीरिक शक्ति को प्राप्त करने के लिये प्रभु के शासन एवं शिक्षा को मानना आवश्यक है। वह प्रभु आत्मबल- आत्मज्ञान-शारीरिक शक्ति सब कुछ देता है–

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यजु० २५-१३

दिव्य शक्तियों को प्राप्त करने के लिये तप की मुख्य भूमिका है। तप के द्वारा सब कुछ सम्भव है। विद्यार्थी यदि तपस्वी भी हो तो वह असाधारण उन्नति कर लेगा। पढ़ने के साथ-साथ सदाचार व शिष्टाचार का पालन, ब्रह्मचर्य की रक्षा का भी ध्यान रहे। जो इच्छा है उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयास करते रहो तो एक दिन वह पूर्ण होगी ही। अपने अथक प्रयास से उस शक्तिपुंज की कृपा प्राप्त करो और आत्मिक एवं शारीरिक शक्ति को प्राप्त करो। तेज पराक्रम बल आदि को प्राप्त करने के लिये निम्न प्रकार से सार्थक (उद्यमसहित) प्रार्थना करने से अवश्य ही मन्त्रोक्त चीजें मिलेंगी–

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि।। यजु० १९-९

43. न तस्य प्रतिमा अस्ति

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः।।

यजु० ३२-३

'जिसका नाम व यश बड़ा है उसकी प्रतिमा नहीं है। वह तेजोमय पदार्थों का आधार है; वह हमें त्याग न दे; वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है; अजन्मा है।'

ईश्वर सम्बन्धी प्रत्येक विषय रहस्यात्मक है। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सारे वेद उसको मानते हैं। ऋषियों ने बहुत से व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं। वेद ही उसका सूत्र है, यदि वेद समझ में आ जाय तो ईश्वर की जानकारी भी हो जाय; वेदविमुख व्यक्ति के लिये ईश्वर का ज्ञान सहज सम्भव नहीं। वेद के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं जो इस जिज्ञासा को पूर्ण कर सके। कोई तो उसे स्त्री तो कोई पुरुष अथवा संयुक्त शक्ति मान बैठा। शास्त्रों में जो तथ्य हैं उनका अर्थ विपरीत रूप में ग्रहण किया और ईश्वर विषयक समस्या वैसी की वैसी ही उलझी रह गयी। निम्नलिखित मन्त्र इसी प्रकार का है–

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि कुमार त्वं उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।। श्वेताश्वतर० ४-३

'तुम स्त्री हो तुम पुरुष हो तुम कुमार अथवा कुमारी हो। तुम वृद्धे होकर लाठी के सहारे चलते हो तथा तुम ही विराट् रूप में प्रकट होकर सब ओर मुख वाले हो जाते हो।'

मन्त्र में यह स्पष्ट नहीं कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसके आधार पर अपनी-अपनी अटकलों से बहुत से रूप बना डाले और सत्य से भटक गये। वेद की उपेक्षा करके अज्ञानान्धकार में खो गये और कुछ का कुछ मानने लगे। जब कुछ समझ में नहीं आया तो परमात्मा को अपने जैसा बना लिया। उसके शरीर की कल्पना करके तरह-तरह की आकृतियाँ बना डालीं। फिर उन्हें वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर उनकी पूजा करने लगे। कोई व्यक्ति प्रतिभासम्पन्न हुआ तो उसे भगवान का अवतार मान लिया। पुराण वालों ने अवतारवाद का ऐसा चक्र चलाया कि लोग असली भगवान को भूल ही गये। रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास स्वयं भटके और दूसरों को भी भ्रम में डाला फिर भक्ति-मुक्ति इतनी सस्ती हो गयी कि कोई राम का नाम उलटा भी जप ले तो संसार सागर से पार हो जाय। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का सीधा अर्थ है–ईश्वर की प्रतिमा नहीं है। पुराणवालों ने इस सूक्ति को तोड़-मरोड़ कर अपना उल्लू सीधा करना चाहा और न तस्य का दूसरा ही अर्थ

लियां अर्थात् उस परमात्मा की प्रतिमा है। स्वामी दयानन्द ने शास्त्रीय प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिखाया कि न तस्य अलग-अलग पद हैं, एक नहीं। इस पर पौराणिकों को हार माननी पड़ी और वास्तविकता सामने आयी। किन्तु व्यवसाय से जुड़े होने के कारण वे अपनी मनमानी करते रहे और भोली जनता को धोखा देते रहे कि ईश्वर साकार है और अवतार लेता है। चित्रों और प्रतिमाओं की पूजा कराने से प्रचुर धन तथा भोग सामग्री प्राप्त हो जाती है इसको अपनाना ही उन्होंने श्रेयस्कर समझा।

परमेश्वर के अनन्त नाम और गुण हैं परन्तु कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, कि वह शरीरधारी है। वेद के वेदत्व को अक्षुण्ण रखते हुए वेद का अर्थ किया जाय तो अनिष्ट से बचा सकता है। प्रतिमा का अर्थ है रूप-मूर्ति-प्रतिमान-उपमा-बराबरी आदि। ईश्वर का कोई स्वरूप नहीं है और उसके समान भी कोई नहीं है। किसी भी शरीरधारी को यह नहीं कहा जा सकता कि वह भगवान है या भगवान के समान है। परमात्मा का पूरा परिचय यजुर्वेद के एक मन्त्र में मिलता है–

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।
यजु० ४०-८

मन्त्र के पदों को अलग-अलग करके अर्थ को समझने में सुविधा होगी। सः पर्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपापविद्धम् कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथा तथ्यतः अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

वह परमात्मा पर्यगात् = सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान है, क्षीघ्रकारी है अर्थात् उसके कार्यों का पता नहीं चलता और कार्य हो जाता है, बीज से अंकुरण होकर वृक्ष बन जाना ऐसा ही कार्य है। शरीररहित, व्रणरहित, छिद्ररहित है। नस-नाड़ियों से रहित है। सर्वथा शुद्ध, पापरहित, त्रिकालदर्शी तथा सूक्ष्मदर्शी है। सबके मन की जानने वाला तथा सर्वज्ञ है, सर्वोपरि = सबके ऊपर अधिष्ठित, अपने आप प्रकट होने वाला है। शाश्वत काल से यथायोग्य सबकी व्यवस्था करता है, यथार्थ भाव से पदार्थों को विशेष कर बनाता है। कठोपनिषद् आचार्य नचिकेता को उपदेश करते हैं–'अस्थिर एवं विनाशशील शरीरों में वह शरीररहित ब्रह्म अवस्थित है, व्याप्त है; उस सर्वव्यापी परमात्मा को जानकर बुद्धिमान शोक नहीं करता–

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। कठोपनिषद् १.२.२२

श्वेताश्वतर ऋषि ने भी ब्रह्म को अंगों से रहित और महान् बताया है; वह हाथ-पैरों से रहित होकर भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करने वाला, वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करने वाला है। आँखों के विना सब कुछ देखता है। कानों के बिना सब कुछ सुनता है जानने‌योग्य सभी वस्तुओं को जानता है। उसको जानने वाला कोई नहीं है। वह सबसे महान् है, अग्रणी है–

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।।

श्वेताश्वतर० ३-१६

श्रुति में परमेश्वर को 'अज एकवाद् देवः' कहा गया है। वह अजन्मा है। जन्म और मृत्यु का साथ हैं, जो जन्मता है है वह मरता भी है। यदि परमात्मा जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाय तो सृष्टि की व्यवस्था कौन करेगा ? शरीरधारी सर्वव्यापक नहीं हो सकता। मनुष्य में भी अजन्मा तत्व आत्मा है जिस पर चार्वाकादि का तो विश्वास ही नहीं होता कि इस प्रकार का कोई तत्व हो सकता है। संसार की प्रत्येक रचना में परमात्मा का अनुभव किया जा सकता है। परमेश्वर की सृष्टि जैसी दूसरी सृष्टि कोई नहीं बना सकता, उसकी रचना की तुलना नहीं तो उस रचनाकार की तुलना कैसे सम्भव है ? शरीरधारी किसी एक स्थान पर ही रह सकता है सर्वत्र नहीं। हमारा शरीर एक जगह ही काम कर सकता है। एक ही समय का ज्ञान हम कर सकते हैं। परमात्मा तीनों कालों को एक साथ जानता है, इसलिये उसे त्र्यम्बक कहा गया है। तीनों काल ही उसके तीन नेत्र हैं। परमात्मा की व्यवस्था को समझने के लिये वेद में उपमा-रूपकादि अलंकारों का प्रयोग हुआ है; ऐसा नहीं कि मन्त्र का अवलोकन कर ईश्वर के अवयवों की कल्पना कर ली जाय और वैसी ही आकृति या प्रतिमा का निर्माण कर लिया जाय। परमात्मा संसार को बनाता है तो मनुष्य परमात्मा को कैसे वना सकता है ? संसार के सारे कार्य उस अविनाशी की शक्ति से सम्पन्न होते रहते हैं जिनका हम पता नहीं लगा सकते। एक कली फूल कव बन गयी कुछ पता नहीं? यदि वह शरीरधारी हो तो शारीरिक दोष भी उसे व्याप्त होंगे, आघात भी होगा, अंग-भंग भी हो सकता है, व्रण आदि से शरीर दूषित व पीड़ित भी होगा, इस प्रकार का परमेश्वर सृष्टि को व्यवस्थित कैसे रख सकेगा ? इसीलिये उसे अव्रणम् बताया है, जिसके व्रण नहीं हैं फोड़ा-फुन्सी नहीं हैं। शरीर होने से शारीरिक क्रियाएँ भी सम्पन्न होंगी तो पाप-पुण्य का सम्बन्ध भी होगा, परन्तु श्रुति ने कहा है–'अपापविद्धम्'। यायातथ्य संसार की व्यवस्था करने तथा कर्मानुसार फल देने के कारण 'अर्यमा' न्यायकारी कहा जाता है। न्यायकारी

वही हो सकता है जो अपराधियों से मिला हुआ न हो, किसी अपराध में संलिप्त न हो। यदि न्यायकर्ता चोरों के साथ चोरी करने लगे तो वह न्याय क्या करेगा? योग दर्शन में कर्म में लिप्त होने का निषेध किया है–

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषाविशेष ईश्वरः।। समाधिपाद–२४

अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश इन पाँचों क्लेशों से, पाप-पुण्यादि कर्मों से, कर्मों के परिणाम से, वासना से सर्वथा अस्पृष्ठ, अन्य पुरुषों की अपेक्षा विशेष चेतन पुरुष ईश्वर कहलाता है। सच्चिदानन्द नाम परमेश्वर का है जो सर्वदा आनन्दमय है। शरीरधारी को सुख-दुःख दोनों प्रभावित करते हैं। शरीर के मिलने का एक यह भी प्रयोजन है कि पूर्व कर्म का परिणाम भोगना है अतः शरीर दुःख रहित नहीं हो सकता। इसीलिये उसे सब पुरुषों से विशेष कहा गया है। ईश्वरीय शक्ति का ज्ञान न होने के कारण बहुत-सी प्रतिमाएँ-आकृतियाँ बनायीं। अनेकों देवी-देवताओं की कल्पना करके उनकी पूजा करने लगे। उसकी शक्तियाँ ही देवता हैं, चित्र और मूर्तियाँ नहीं। वेद में ईश्वर के बहुत से नामों का उल्लेख है उन्हीं के आधार पर बहु देवतावाद का प्रचलन हुआ। इसका समाधान यास्काचार्य ने किया है–

महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्येदेवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।। –निरूक्त ७.४.८, ९

'जगत् का कारण एक ही महादेव है उसकी महत्ता के कारण एक की ही बहुत प्रकार से स्तुति की जाती है, वेद में वर्णित अन्य देवता उसके अंग हैं।' एक मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हे इन्द्र ! तुम से कोई ऊपर नहीं, बढ़कर नहीं, श्रेष्ठ नहीं और तुम जैसा भी नहीं–

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेवा यथा त्वम्।। ऋ० ४.३०.१

❋❋❋

44. दीप से दीप जले

हमारे साथ कर्तव्यों का बन्धन सदैव लगा हुआ है। बहुत ध्यान देने पर भी उनमें से कुछ कर्त्तव्य ऐसे छूट जाते हैं जिनसे हमारे वंश का मूल उत्थान जुड़ा हुआ है। उनका निर्वाह करने से हमें विशेष लाभ तो प्रतीत नहीं होता परन्तु न करने से हानि बहुत बड़ी होती है। आगे आने वाली पीढ़ियाँ भी उसका दण्ड भोगती हैं। पाश्चात्य वातावरण में पले हुए बच्चे को यह पता नहीं कि उसकी संस्कृति क्या है ? धर्म किसे कहते हैं ? धर्म ग्रन्थ कौन-सा है तथा पारिवारिक सम्बन्धों का क्या महत्त्व है ? धर्म और संस्कृति से कर्त्तव्यों का ज्ञान होता है। धर्म के अभाव में कर्त्तव्यों का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जाता; वैवाहिक सम्बन्धों में विच्छेद का प्रचलन इसका प्रबल प्रमाण है। छोटी-छोटी बातों पर पति-पत्नी एक-दूसरे को अपनी प्रगति में बाधा समझते हैं। वृद्धों का सम्मान तो विरले ही परिवारों में होता है। धर्म का त्याग करने पर व्यक्ति अपने आपमें ही सन्तुष्ट नहीं हो पाता दूसरों को वह क्या सन्तुष्ट कर सकता है ? पारस्परिक सहयोग की भावना न्यून होने से स्वाभाविक विकास रूक जाता है। माता-पिता को यह पता नहीं कि उन्हें बच्चों के साथ कैसा वर्ताव करना चाहिये ? बच्चों के लिये बड़ों के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं रह गया है। वृद्धों को भी वृद्धावस्था में पारिवारिक मोह बढ़ता जाता है। परिणामस्वरूप वे अधिक तिरस्कृत होते हैं आश्रमव्यवस्था प्रायः लुप्त हो चुकी है, पारिवारिक विसंगति का सबसे बड़ा कारण यही है। जिस बच्चे के जीवन में आरम्भ से ही बनावट आ गयी है वह वास्तविकता से सदैव दूर रहता है। हमारे आर्य परिवारों में वैदिक परम्पराएँ विकृत हो चुकी हैं और हम विकासवाद के मद में फूले नहीं समाते।

इस अनदेखी का भयंकर परिणाम प्रत्येक को भोगना पड़ रहा है। परिवारों में समस्याएँ इतनी बढ़ती जा रही हैं कि उनका समाधान करने में सारी आयु लग जाती है। व्यस्तता इतनी बढ़ गयी है कि समस्याओं के मूल तक पहुँचने का अवसर नहीं मिलता। यदि हम विचार करें तो अपने को ही दोषी पायेंगे। आगामी पीढ़ी के मार्गदर्शन की कोई व्यवस्था नहीं है। यह भूल बढ़ती ही जा रही है। प्रदर्शन की दृष्टि से सब कुछ ठीक है परन्तु मौलिक रूप से हमारे पास कुछ नहीं है। दिशाहीन होने का कारण शिक्षा का अभाव है। शिक्षा दो माध्यमों से मिलती है; एक घर में माता-पिता से दूसरे विद्यालय में अध्यापक से। माता-पिता धार्मिक कृत्यों को तया सांस्कृतिक कार्यक्रमों को ठीक प्रकार से सम्पन्न करते हैं तो बच्चे स्वतः ही सीख जाते हैं। जिस घर में नमस्ते नहीं की जाती हो तो बच्चे कैसे जानेंगे कि

उन्हें नमस्ते करनी है ? माता-पिता को यदि अभिवादन के नाम पर हाथ जोड़ना नहीं आता तो बच्चों का क्या दोष है, वे जैसा देखेंगे वैसा करेंगे। घर में स्वाध्याय की पुस्तक नहीं, कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं, किसी महापुरुष की जीवनी नहीं। चित्र हैं तो सिनेमा वाले, पुस्तकें हैं तो अपराध की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने वाली। इस विषैली व्यवस्था से कोई परिवार ही वचा होगा। कभी सत्संग नहीं होता, परिवार में विद्वान् का पदार्पण नहीं होता, धार्मिक वार्ता नहीं होती तो फिर कौन किससे सीखे ?

आज विकल्प में अधिक विश्वास है। धर्म का विकल्प अर्थ है। धर्म को अर्थोपार्जन का वाधक मान लिया है। व्यवसाय में उन्नति करनी है तो धर्म को अलग रखना भी एक विकल्प है। आर्यत्व का विकल्प हिन्दुत्व और हिन्दुत्व का विलय पाश्चात्य या दूषित विचारधारा में हो गया है। आज का विकल्प कल है, यदि आज हमारे धार्मिक कृत्य सम्पन्न नहीं हो पाये तो कल हो जायेंगे, अभी बहुत आयु शेष है, आरम्भ से ही धर्म के पचड़े में पड़ना ठीक नहीं है। धर्म की उन्नति पिछड़ेपन का प्रतीक बन गयी है। परिधान-भाषा-रहन-सहन का भी विकल्प है। हमारी अपनी कोई भाषा नहीं। आज अनुभव होता है कि लार्ड मैकाले स्वामी दयानन्द की अपेक्षा अधिक सफल हुआ और स्वामी दयानन्द का भी विकल्प वही वन गया। महर्षि ने ज्ञान की ज्योति जगायी थी जिसे बुझाने के लिये वड़ी-वड़ी शक्तियाँ लगी हुई हैं।

आज सारी परिभाषाएँ परिवर्तित की जा रही हैं, अपनी जिम्मेदारी से हम जितना वच सकें वैसी ही परिभाषा हम बना लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने विषय में चिन्तित है, परिवार-समाज-राष्ट्र कहीं भी चला जाय। हमारा व्यक्तित्व खूब उभरे, हम इसीलिये जीते हैं, चाहे इसके वदले में राष्ट्र का भी वलिदान हो जाय। हमारी अपनी आवश्यकताएँ ही चिन्तन और स्वार्थपूर्ति ही हमारा धर्म है। हम अपने परिवार से परामर्श करना ठीक नहीं समझते, हो सकता है हमारी आवश्यकताओं को सीमित करने की बात आ जाय। यह प्रवृत्ति पारिवारिक विघटन का कारण बनी हुई है। प्रत्येक परिवार की कुछ विशेषता या कुछ पहचान होनी चाहिये; किसी की दान से; किसी की अतिथि सत्कार से; किसी की सत्संग से तो किसी की परोपकार से प्रसिद्ध होनी चाहिये। कोई परिवार याज्ञिक हो, जहाँ लोग यज्ञ की दीक्षा लेने आवें और यज्ञ के महत्त्व को समझें। बहुत से परिवार ऐसे हों जिनका राष्ट्र के लिये विशेष योगदान हो।

हमारा कर्त्तव्य होता है कि ऋषियों के द्वारा जलाया ज्ञान का दीपक बुझने न पावे। हमने बहुत कुछ सीखा परन्तु दूसरा दीपक जलाने में असमर्थ रहे। ऋषियों के द्वारा दिये

गये कार्यक्रमों को हम अपना न सके। पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है परन्तु गृहस्थ निष्क्रिय हो गये और मात्र उदारपूर्ति ही जीवन का लक्ष्य बनकर रह गया। नयी पीढ़ी का निर्माण गृहस्थ में ही होता है। यदि गृहस्थ में ज्ञान चर्चा नहीं होती तो नयी पीढ़ी अज्ञानान्धकार में भटकेगी। एक सूक्ति है 'अग्निनग्निः समिध्यते' ज्योति से ज्योति (अग्नि से अग्नि) जलायी जाती है। इस क्रम को हमने अपनाया नहीं। परिवार का एक व्यक्ति भी यदि इस ओर ध्यान दे तो पूरा परिवार उससे लाभान्वित हो सकता है। ऋषियों के जो कर्त्तव्य थे वे हमारे भी होते हैं, हम इस दायित्व से बचने की कोशिश करेंगे तो संसार में घोर अन्धेरा छा जायेगा। प्रकाश ऋषियों ने फैलाया हमें भी फैलाना है। ऋषियों ने अग्नि की उपासना की है हमें भी करनी है–

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडयो नूतनैरूत।
स देवाँ एह वक्षति।। ऋ० १.१.२

"इति"

ओ३म्

चेतना

डॉ० रविदत्त शर्मा आचार्य

एम०ए० (वेद) एम०ए० (संस्कृत)
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न

लेखक की अन्य कृतियाँ :
- दिनचर्या
- शिष्टाचार

1994

सरस्वती साहित्य संस्था

295, जागृति इन्क्लेव, विकास मार्ग, दिल्ली-92

☎ 2222435

Ravi Shastri

ओ३म्

वैदिक कर्मकण्डिका एवं आर्य पञ्चाङ्ग

–सन्त वसिष्ठ

६२ पृष्ठ–सुन्दर रंगदार कवर मूल्य : 4.00 रुपये

दैनिक कर्मकण्डिका-मंत्रों का संकलन। लघु परन्तु उपयोगी, सुन्दर तथा आकर्षक, उपहार में देने योग्य, ५" × ४" के जेबी आकार की पुस्तिका। ज्योतिष शास्त्र के वास्तविक स्वरूप की प्रकाशिका, यह पुस्तिका प्रत्येक व्यक्ति की जेब में रहनी चाहिये। इसका मूल्य केवल लागत-मात्र ४ रुपये रखा गया है।

दिनचर्या

मूल्य : 1.50 रुपये –डॉ० रविदत शर्मा आचार्य

इस लघु पुस्तिका को लेखक ने आठ भगों में बांट कर अत्यंत सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। स्वास्थ्य के लक्षण–नियमों का पालन–दिनचर्या का स्वरूप–प्रातः जागरण–नित्यकर्म–आहार–विश्राम तथा ऋतुचर्या जैसे विषय लेकर लेखक ने इस पुस्तक को अत्यन्त रोचक बना दिया है।

शिष्टाचार

– डॉ० रविदत्त शर्मा आचार्य

पृष्ठ–64 मूल्य : 3.75 रुपये

★ अच्छे बच्चे – बच्चों को व्रत लेना है कि वे आदर्श बच्चे बनें। अपने भाई-बहन से मेल रखें। माता, पिता, गुरु ये तीनों देवता हैं। इनका आदर करें।

★ हमारा परिवार – सभी सदस्य संगठित होकर रहें। सुखी जीवन व्यतीत करने का यह मुख्य उद्देश्य है। सब परिवार भजन आदि भोजन मिलकर करें।

★ हमारा इष्टदेव – संसार को नियत्रंण में रखने वाला एक ही है जो दिखाई नहीं देता। इसका पता केवल वेदों में मिलता है।

★ नियमित जीवन – मनु जी ने सोने और काम करने के समय निश्चित किये हैं। रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर जागने के हैं। प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठकर चिन्तन करना जीवन के साधनों पर विचार करना, शरीर एवं स्वास्थ्य के विषय में सोचना।

★ स्तुति-प्रार्थना-उपासना – [illegible] के साथ प्रार्थना करने से सफलता मिलती है। प्रार्थना से अभिमान नष्ट होता है।

★ कल्याण का मार्ग – मानव धर्म-पुनर्जन्म-अपराध की प्रवृति-आहार-हमारे पर्व-पुरुषार्थ और सफलता इत्यादि कई निबन्ध हैं।
